चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 3 अंक 2 अक्टूबर-दिसम्बर 2005

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति
डॉ. लोकेशचन्द्र
यशदेव शल्य
जे.एन.राय

सम्पादक
बी. बी. कुमार

आस्था भारती
दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती
12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा
विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।
फोन : 011-22712454
अणु डाक : asthab@vsnl.net
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. 'सावित्री' और श्री अरविन्द
रमेश चन्द्र शाह 10

2. देखा जाएगा
शंकर पुणतांबेकर 21

3. पत्र-सम्पादक : हाशिए पर
राम बहादुर राय 28

4. भारतीय उच्च शिक्षा का बदलता स्वरूप
डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव 34

5. इतिहास लेखन का अन्तर्राष्ट्रीय विवाद
शंकर शरण 42

6. पुलिस पर राजनीतिक और नौकरशाही के नियंत्रण के मुद्दे
डी. सी. नाथ 59

7. महाजनी सभ्यता
प्रेमचन्द 68

8. 'कबीर' का दार्शनिक पक्ष
डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी 76

9. आचार्य शुक्ल का साहित्य-दर्शन
साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव 82

10. साहित्य और सामाजिक सरोकार
डॉ. नन्दलाल मेहता वागीश 88

11. पुस्तक-समीक्षा : एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण
डॉ. विष्णुदत्त शर्मा 95

12. पर्यावरण संरक्षण
डॉ. किशोरीलाल व्यास 104

पाठकीय प्रतिक्रिया 112

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

निर्मल वर्मा नहीं रहे!

निर्मल वर्मा आज हमारे बीच नहीं रहे। वे हमारे समय के सबसे सशक्त सर्जनात्मक लेखकों में से थे। उनकी कहानियों में कोई क्षण, कोई छोटी सी मुलाकात, कोई क्षणिक बातचीत, कोई साधारण सी घटना,अपनी सम्पूर्ण सशक्ता, गहराई एवं फैलाव से अभिव्यक्ति एवं विस्तार पाकर सजीव हो उठती थी। उनकी कहानियों में कोमलता एवं संवेदना है, तो विस्थापन आदि का दर्द भी। उनके अद्यतन लेखों में विशेषतः भारतीय सभ्यता, संस्कृति, भाषा, आदि पर लिखे लेखों में जैसी स्पष्टता, गहनता एवं मूल्यपरकता; जैसी ईमानदारी, विचार-परिपक्वता एवं स्पष्टता दिखायी देती है, वैसा आज बहुत ही कम लेखकों में दिखती है।

निर्मल वर्मा का जन्म सन् 1929 ई. में शिमला में हुआ था। उन्होंने संत स्टीफन कॉलेज, दिल्ली से इतिहास में स्नातकोत्तर की उपाधि लेकर पाठन एवं लेखन कार्य शुरू किया था। सन 1959 में चेकोस्लोवाकिया के प्राच्य अध्ययन संस्थान के आमंत्रण पर प्राग जाकर वे वहाँ आधुनिक चेक लेखकों के लिखे साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करते रहे। वे उस देश में कई वर्षों तक रहे; वहाँ रहकर बीच-बीच में पूर्वी एव पश्चिमी योरप के विभिन्न देशों का भ्रमण भी करते रहे। कई लोग उनपर योरोपीय प्रभाव तथा उनके लेखन में योरोपीय संवेदना की चर्चा करते हैं। वस्तुतः ऐसा है नहीं। निर्मल वर्मा वैश्विक हैं। उनमें योरोप की गहन समझदारी भी है। इससे उनके सोचका फलक तो विस्तृत हुआ; भारतीयत्व में बदलाव नहीं आया। यही कारण है कि उनकी “योरोपीय” कहानियों में भी भारतीयत्व के तत्त्व स्पष्टतः दिखायी देते हैं।

निर्मल वर्मा भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान तथा साहित्य अकादमी के महत्तर सदस्य रहे। उनके ‘कौवे और कालापानी’ कहानी-संग्रह पर उन्हें साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया। उनके समस्त लेखन तथा,कला एवं साहित्य के लिए आजीवन अवदान पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। इसके अतिरिक्त उन्हें और भी कई पुरस्कार मिले। निर्मल वर्मा के पाँच उपन्यास, आठ लघु कथा संग्रह तथा कई निबन्ध संग्रह छप चुके हैं। उनकी पुस्तकों के अनुवाद भी कई भाषाओं में छपे हैं।

निर्मल वर्मा के निधन से हमारे देश, समाज, भाषा एवं साहित्य की जो क्षति हुई है, उसकी पूर्त्ति संभव नहीं। वे आस्था भारती की दोनों पत्रिकाओंडायलाग एवं चिन्तन-सृजनसे जुड़े रहे; चिन्तन-सृजन के संपादकीय सलाहकार समिति के सदस्य

रहे। वे गये। उनके विचार तथा उनकी पुस्तकें हमारे साथ हैं और लगातार साथ रहकर हमें रास्ता दिखाती रहेंगी।

बिहार का रोग या समस्त भारत का?

बिहार के चुनाव अभी अभी खत्म हुए हैं। पिछले 2-3 दशकों में हुए चुनावों में यह सबसे शान्त चुनाव था। मतदान कुछ कम हुआ। संभव है यह गलत मतदान के निषेध का परिणाम हो। के. जी. राव निश्चय ही 'हिरो' होकर उभरे हैं। चुनाव से तीन बातें स्पष्टतः उभरकर सामने आयी हैः

(क) चुनाव आयोग देश में कहीं भी शान्तिपूर्ण तरीके से चुनाव करा सकता है और ऐसा वह भविष्य में करता भी रहेगा।

(ख) बिहार के सरकारी तंत्र को अभी भी सुधारना और काम के योग्य बनाना संभव है।

(ग) बिहार के लोग, देश के किसी भी भाग के लोगों की तरह ही, सकारात्मक बदलाव चाहते हैं।

लोक-प्रशसन के विश्व प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर पॉल अप्लेबी ने 1956 में बिहार की गणना देश के सर्वाधिक सुशासित प्रदेशों में की थी। प्रशासन में गिरावट नौकरशाहों एवं राजनीतिकों के गठजोड़ से शुरू हुई। के. अब्राहम 1951 में पूर्णियां के जिला दण्डाधिकारी तथा 1962 में भागलपुर के आयुक्त रहे। 1970 के दशक के मध्य में उनसे मिलने कुछ नव-नियुक्त भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी आए। उनमें से एक ने कहा कि उसने तथा उसके कुछ साथियों ने निर्णय लिया है कि वे अपने मंत्री के गलत आदेशों का भी पालन करेंगे। यह शायद प्रशासन के बिगड़ने की शुरुआत थी। कई ईमानदार अधिकारी दण्डित हुए। भ्रष्ट अधिकारियों को लाभ पहुँचाया गया; उनका बचाव किया गया। अधिकारियों के लिए ईमानदारी से निर्भयतापूर्वक काम करना लगातार कठिन होता गया।

ऊपर लिखे गठजोड़ में अपराधियों के शामिल होने तथा सरकारी कर्मचारियों की युनियनबाजी के कारण कार्य-संस्कृति के बिगड़ने से प्रशासन की गिरावट चरम पर पहुँच गयी। विकास तथा शान्ति व्यवस्था, दोनों क्षेत्रों में इसका बुरा प्रभाव पड़ा। अपहरण व्यवसाय बन गया। पूर्व जानकारी के होते हुए भी जहानाबादजैसी घटना घट गयी, जिससे पटना उच्च न्यायालय को भी मानना पड़ा कि "हम भी न्यायालय में सुरक्षित नहीं हैं।"

बंगाल एवं बिहार में अंग्रेजी शासन अधिकतम समय तक रहा। अंग्रेजों द्वारा जमीन के स्थायी बन्दोवस्त एवं उनके द्वारा लादी गयी जमीन्दारी व्यवस्था के दुरुपरिणाम से बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल में लगातार अकाल पड़े, लाखों लोग मरे। अंग्रेजी राज में इन तीनों प्रान्तों के लोगों की पहल की क्षमता नष्ट हुई।

आजादी के बाद बिहार के लोगों को विकास के क्षेत्र में दुतरफा मार झेलनी पड़ी। एक तरफ केन्द्र की उदासीनता तथा गलत नीतियों के चलते उसे विकास के लिए कम पैसे मिले, तो दूसरी तरफ राज्य कीअक्षम तथा भ्रष्ट मशीनरी उस कम पैसे का भी उपयोग न कर सकी। पैसे लगातार दिल्ली वापस होते रहे। योजना आयोग से मिले कम पैसे का यह हाल था कि पहली योजना में बिहार की तूलना में पंजाब एवं हरियाणा को प्रति व्यक्ति लगभग साढ़े सात गुना अधिक पैसा मिला। बिहार को खनिज की रायल्टी लगातार कम मिलती रही। बिहार में खनिज होने का स्थानीय लाभ (Locational benefit) उसे मिलना चाहिए था, उसका विकास अपेक्षाकृत तेजी से होना चाहिए था, जो केन्द्र की दूरी का ध्यान न देते हुए ढुलाई खर्च की बराबरी की नीति (Freight Equilization Policy) के चलते नहीं हुआ। इस नीति से पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा को भी घाटा हुआ। बिहार में केन्द्रीय विश्वविद्यालय नहीं खुले; केन्द्रीय संस्थाओं के क्षेत्रीय केन्द्र भी नहीं खुले। राष्ट्रीय राजमार्गों की दशा अत्यन्त बुरी है।

बिहार के रोग को बड़े फलक पर पूरे देश के संदर्भ में देखने पर कुछ बातें बड़ी साफ होकर उभरती हैंः

(क) बिहार का रोग सम्पूर्ण भारत का रोग है। वस्तुतः देश के कई भागों की स्थिति कई मायने में बिहार से भी खराब है। आन्ध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र में किसान लगातार आत्महत्या कर रहे हैं। कालाहाण्डी में माता-पिता अभी भी बच्चों को कुछ रुपये में बेचने को बाध्य हैं। आन्ध्र प्रदेश में नक्सलवाद लगातार बना रहा। विरप्पन, जब तक बूढ़ा और बिमार होकर मारा नहीं गया, लगातर दशकों तक तमिलनाडुएवं कर्नाटक सरकारों का सरदर्द बना रहा; अपनी शर्त मनवाता रहा। असम के कर्बी आंगलोंग जिले में बर्बतापूर्वक मारे गये निर्दोष कर्बी एवं दिमासा मर्दों, औरतों, बच्चों की संख्या सौ की संख्या पार कर गयी है।देश में माओवादियों का जोर लगातार बढ़ता जा रहा है। वे आन्ध्र प्रदेश से नेपाल तक मुक्त क्षेत्र एवं गलियारा बनाने के कार्य में सक्रिय हैं। उत्तर प्रदेश आज देश का सर्वाधिक अपराधी राज्य है। एन.एस.सी.एन. तथा उसके नेता मुइव्हा के आतंक का साम्राज्य नागालैण्ड से लगातार बढ़ते हुए सिलीगुड़ी तक आ पहुँचा है। ऐसा आतंकवादी अलगाववादी संगठनों के संख्या एवं बल में लगातार वृद्धि एवं उनकी आपसी गठजोड़ से संभव हुआ है। इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि मुइव्हा तथा उसका संगठन पूर्वोत्तर भारत के अलगाववादी आतंकी संगठनों को लगातार अस्त्र-शस्त्र की आपूर्त्ति, उनको प्रशिक्षण तथा आवश्यकता पड़ने परअपने कैम्पों में संरक्षण देते रहे हैं। इस देश में अवैध बंगलादेशियों की संख्या दो करोड़ तक पहुँच गयी है। असम एवं पश्चिमी बंगाल में तो उनका वर्चश्व इतना बढ़ गया है कि वे अपने विधायक चुनने तथा मुख्यमंत्री बनाने की प्रक्रिया को प्रभावित करने की स्थिति में हैं। हमारे राजनीतिक दल इस खतरे को जानते हैं। वे

यह भी जानते हैं कि बंगलादेश पूर्वोत्तर भारत तथा अपनी सीमाओं से लगे पश्चिम बंगाल तथा बिहारके कुछ हिस्सों को वृहत्तर इस्लामी बंगलादेश का भाग बनाना चाहता है; ऐसी होने पर भी वे अपने क्षुद्र अल्पकालिक स्वार्थों के लिए अवैध घुसपैठियों को संरक्षण दे रहे हैं। लश्कर-ए-तइबा जैसे जेहादी संगठन जम्मू-कश्मीर में खूनी लड़ाई लड़ रहे हैं; सारे देश में बम फोड़ रहे हैं। उनका घोषित उद्देश्य मात्र कश्मीर को हड़पना नहीं; सारे देश पर इस्लामी शासन (दार-उल-इस्लाम) कायम करना है। निश्चय ही ये रोग जो सार्वदेशिक हैं; अत्यधिक विस्तार पाते जा रहे हैं। निदान आवश्यक है।

(ख) वस्तुतः बिहार उन सारे रोगग्रस्त राज्यों को, तथा केन्द्र को भी, मनोवैज्ञानिक राहत पहुँचाता है कि वे अच्छे हैं। इस देश के समाचार माध्यम लगातार भ्रम फैला रहे हैं, गलत सूचनाएँ देते हैं; हमारी समस्याओं कोसम्पूर्णता के आयाम में देखने तथा समझने की क्षमता हमसे छीन रहे हैं। "बिहार के रोग" का भ्रम भी समाचार माध्यम द्वारा फैलाया गया भ्रम ही है। रोग सारे देश का है। उसका निदान भी सार्वदेशिक होना चाहिए।

(ग) रोग का कारक हमारी विकृत अदूरदृष्टिपूर्ण राजनीतिक संस्कृति है। यह समाचार माध्यमों के मालिकों तथा बिकाऊ बुद्धि जीवियों को लाभ पहुँचाती है; उनसे लाभ लेती है। राजनीति लोगों को जाति, धर्म, भाषा,नस्ल, क्षेत्र आदि के नाम पर बाँटकर देश और समाज के भीतर दरार पैदा करती है। उन्हें भीतर से कमजोर करती है। राजनीतिक दल तथा उनके कार्यकर्ता आत्म-नियंत्रण खो चुके हैं। अपराधी मंत्री को हटाने तथा गलत तरीके से सरकारी घर में रह रहे नेताओं को घर खाली करवाने के लिए न्यायालय की पहल आवश्यक हो रही है।

राजनीति कुर्सी और सुविधा दिलाती है। राजनीति-कर्मियों को इस बात का जबाब देना चाहिए कि उनकी गलत राजनीति तथा सुविधा की कीमत राष्ट्र और समाज क्यों दें? उनके "बन्द" की उत्पीड़क राजनीति को समाज क्यों सहन करे? 'बन्द' की राजनीति से अकेले असम को लगभग 900 करोड़ रुपये का सालाना घाटा हो रहा है। लाखों लोग बर्बर राजनीतिक कार्यकलाप से कष्ट उठाते हैं। केरल, पश्चिम बंगाल तथा मुम्बई उच्च न्यायालयों ने इसे गलत माना है। असम के कुछ प्रबुद्ध लोगों ने इसके विरूद्ध पहल शुरु किया है। ऐसा अन्यत्र भी होना चाहिए।

राजनीति के सुविधा भोगी लोग कुर्सी तथा सुविधा से वंचित होते ही अपना संतुलन तथा अनुशासन खो बैठते हैं। वे भी जिनका प्रशिक्षण राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विद्यालयों में हुआ है। क्या समय नहीं आया है कि ये आत्म-मुग्ध संगठन अपनी इस कमजोरी पर आत्म-मंथन करें?

बौद्धिकता के अपने दंभ के बाबजूद भारत का कम्युनिस्ट, तथा उससे जुड़ा हुआ बौद्धिक वर्ग एवंसमाचार माध्यमकर्मी सबसे अधिक भ्रम का शिकार है। भारतीय साम्यवाद में जमीनी सत्य के साक्षात्कार कीक्षमता का सदा अभाव रहा है। इससे इनके चरित्र, सोच तथा कार्य-प्रणली आदि पर गलत प्रभाव पड़ा है और इनमें मौलिकता का अभाव रहा है। यही कारण रहा है कि भारतीय कम्युनिस्ट लेनिन या माओ पैदा करने में अक्षम रहे हैं तथा राष्ट्रीय स्वार्थों की सदा अनदेखी करते रहे हैं। सत्ता-तंत्र से जुड़ाव के बाबजूद विरोधी दल की भूमिका निभाना, अपने देश के अणु-ऊर्जा की आवश्यकता की अनदेखी करके किसी ऐसे देश की वकालत, जिसका राष्ट्रपति किसी देश को विश्व के मानचित्र से मिटाने की खुली घोषणा करता हो तथा अणु-बम बनाने की मंशा रखता हो; तथा देश की विदेश-नीति को साम्प्रदायिक मोड़ देने का प्रयत्न; ये ऐसे गलत काम हैं, जिसे देश की जनता तो समझती ही है, कम्युनिस्ट समझें या न समझें।

मनमोहन सिंह एक ईमानदार तथा विद्वान प्रधानमंत्री हैं। वे इस देश की आवश्यकता को समझते हैं। वे देश को प्रगति के पथ पर तेजी से आगे बढ़ाना चाहते हैं। वे अमेरिका से ऐसा समझौता नहीं कर सकते जिससे देश को घाटा हो। फिर जब देश का प्रधानमंत्री, जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय में जाता है तो ईरान के स्वार्थ को पहल देकर उसके भाषण में अवरोध पैदा करना; हमें सोचने को वाध्य करता है कि हमारी शिक्षा में ही नहीं उसके तंत्र में भी विकार पैदा हो गया है।

मार्क्सवाद इस देश में एक उपनिवेशवादी विचारधारा के रूप में आया। स्वयं मार्क्स ने बार बार अंग्रेजी राज की प्रशंसा किया है। वहावी/तबलीगी जमात के लोग, मध्य एशिया तथा रूस की तरह ही, भारतमें भी, 'शुद्ध इस्लाम' के नाम पर सूफीवाद तथा पारंपरिक इस्लाम का विरोध करते हैं और लोगों में अलगावफैलाते हैं।इससे व्होट बैंक की राजनीति सफल हुई है। अंग्रेजी शिक्षा, मार्क्सवाद तथा वहाबी प्रभाव, इन तीनोंसे जकड़ा वामपंथी दिमाग (mindset) हमारे लिए सबसे बड़ी समस्या का कारक बनता जा रहा है। शिक्षा-प्रणाली तथा संवाद-हीनता की स्थिति में बदलाव को और अधिक टालना हमारे लिए घातक होगा।

ब्रज बिहारी कुमार

‘सावित्री’ और श्री अरविन्द

रमेश चन्द्र शाह*

(1)

बीसवीं सदी के अवसान की घड़ियों में सारी दुनिया मेंस्वयं भारत में भीपत्रकारिता और साहित्यिक विमर्श दोनों स्तरों पर जिस तरह के आकलन किए गए, उन्हें देखते हुए एक व्यंग्य-विपर्यय की तरह यह बात मन में आई कि इस सबमें जिस एक आदमी की सबसे पहले याद आना स्वाभाविक होता, उसकी याद किसी को नहीं आईऐसा क्यों? इस शताब्दी में ही क्यों, किसी भी युग में, किसी भी सभ्यता के इतिहास में एक ही व्यक्ति के भीतर लगभग विपरीत समझी जानेवाली क्षमताओं का ऐसा सम्मिलन दुर्लभ्य है। कवि और चिन्तक का, ऋषि और मुनि का, पूर्व और पश्चिम का, योगी और दार्शनिक का, तत्त्वज्ञान और कर्मज्ञता का ऐसा उत्कट और प्रभावशाली मेल क्या कहीं और भी दिखाई पड़ता है? स्वयं इस देश के इतिहास में भी? फिर भी, अपने वर्तमान आचरण को, यानी अपने बुद्धिजीवियों और राजनीतिकों के आचरण को देखते हुए श्री अरविन्द जैसी घटना के घटमान होने की तो कौन कहे, घटित हो चुकने तक का क्या वैसा अहसास कहीं दिखता है? इसी शताब्दी के दूसरे युग-पुरुष महात्मा गाँधी के उदाहरण को भी हम सरकारी-गैरसरकारी दोनों ही स्तरों पर नाम स्मरण-कीर्तन से आगे कारगर होते नहीं देखते। क्या यह बात अपने आपमें विस्मयकारी नहीं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, कि ये दोनों लगभग समकालीन थे; समकालीन भारत के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से भी और राजनीति में आध्यात्मिक शक्ति के विनियोग की दृष्टि से भी कहीं-न-कहीं परस्पर-पूरक थीं इनकी भिन्नताएँ भी।

(2)

हमारी यानी वर्तमान भारत की एक बहुत बड़ी समस्या सांस्कृतिक लयभंग की है, सांस्कृतिक आत्मविश्वास के छिन्न-भिन्न हो जाने की है। मैं समझता हूँ उक्त दोनों महापुरुषों का जीवन-कार्य इस लयभंग का ही उपचार करने का अपने-अपने ढंग का अनूठा उपक्रम थाउक्त सांस्कृतिक आत्मविश्वास को लौटा लाने का घनघोर तप था जो मानववादी दृष्टि से भी कहीं बड़े सत्यचराचर-निष्ठ ज्ञान दृष्टिकी प्रासंगिकता को लौटा लाने का तप था। वह दृष्टि, जो किसी अन्य लोकमंगल-विधायक दृष्टि के आड़े नहीं आती; किसी अन्य मानव-सभ्यता या संस्कृति के अवदान के आड़े नहीं आती, बल्कि ऐसे समस्त योगदान को समेटती हुई चलने को ही प्रतिश्रुत होती है। इसलिए, कि वह सत्ता और सत्य के सबसे भीतरी वृत्तकहना चाहिए सबसे मूलभूत केन्द्र से काम करती आई है। उसकी मूल प्रेरणा और चालक शक्ति आध्यात्मिक यथार्थ या, कह लीजिए, आध्यात्मिक यथार्थवाद हैजिसमें से, और मात्र जिसमें से वह चराचरवादी दृष्टि आती है जो मानववाद और बुद्धिवाद और समाजवाद इत्यादि को अपने में समाहित करते हुए भी उनसे कहीं अधिक मूलगामी और सर्वव्यापी दृष्टि है।

(3)

‘सावित्री’ इसी सत्य के अनुसंधान का आख्यान और कवि-कर्म है। ग्योएटे के ‘फाउस्ट’ की तरह इसकी रचना की अवधि रचनाकार के समूचे आयुष्य को समेटे हुए है। अन्य सारी कृतियाँ श्री अरविंद की बहुत जल्दी पूर्ण हो गई थीं। मैं समझता हूँ ‘आर्य’ के सम्पादन काल की जिस छोटी-सी अवधि में कर्मक्षेत्र की घनघोर व्यस्तताओं के बीच जितना सान्द्र और सारभूत लेखन जितने विपुल परिणाम में इस आदमी ने किया, उतना और वैसा लेखन-कर्म शायद ही किसी ने किया होगा। सन् बीस के बाद वे सम्पूर्णतः योग-साधना को समर्पित हो चुके थे। वह भी उनके लिए कर्म ही था। किन्तु ‘सावित्री’ को छोड़कर और कोई लेखन उन्होंने नहीं किया। मात्र एक सावित्री का लेखन उनकी साधना के साथ-साथ चलता रहा। उस साधना के अविभाज्य अंग की तरह। इस तथ्य को याद रखना आवश्यक है। सावित्री आध्यात्मिक साधना और आध्यात्मिक सिद्धि का काव्य है। ऐसा काव्य, जिसके समरूप-समकक्ष और कोई उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलेगा। किन्तु यह तथ्य अपने आपमें ‘सावित्री’ की दुर्लभ्यता का, संप्रेषण के स्तर पर उसकी अलोकप्रियता या अप्रभाविता का भी कारण है। मैं स्वयं अपने अनुभव का प्रमाण लूँ : अनेक लेखकों की तरह मैं भी साहित्य के क्षेत्र में काम करनेवाला एक ऐसा व्यक्ति हूँ जिसे साहित्य के सर्वाश्लेषी स्वभाव के कारण ही अन्य मानवीय गतिविधियों यथा दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति, समाजशास्त्र आदि में भी थोड़ी बहुत दिलचस्पी रही है। गाँधी वाङ्मय से मेरा सम्पर्क लड़कपन में ही हो गया था किन्तु अरविन्द वाङ्मय में मेरी दिलचस्पी सन् 71 के आसपास यानी अपनी उम्र के पैंतीसवें वर्ष में ही जाग्रत हो सकी। इस विलम्ब का कारण स्पष्ट ही मेरा

---

*रमेश चन्द्र शाह अंग्रेजी के पूर्व आचार्य/प्रोफेसर तथा हिन्दी अंग्रेजी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक हैं। पता : एम-4 निरालानगर, भदभदा रोड, भोपाल-460003।

परिवेश था। साहित्यिक और बौद्धिक क्षेत्रों में श्री अरविन्द का नाम मुश्किल से ही कभी सुनाई देता था। अपने समाजवादी गुरु भी यही कहते थे कि श्री अरविन्द को गम्भीरतापूर्वक लेने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि एक तो उनके यहाँ योग-अध्यात्म वगैरह का पचड़ा है, और, दूसरे, उनका सारा लेखन विदेशी भाषा में होने के कारण अप्रामाणिक है। कहने का मतलब यह, कि मेरे तात्कालिक परिवेश में श्री अरविन्द को लेकर तमाम तरह के पूर्वग्रह सक्रिय थे जिनका असर तमाम अन्य लोगों की तरह मुझ पर भी पड़ना ही था। इसके पूर्व एक बार, सिर्फ एक बार, किसी के आग्रह करने पर मैंने 'सावित्री' पढ़ने की कोशिश की मगर उसमें मन नहीं लगा। जल्दी ही उससे मैं विरक्त हो गया। 'सावित्री' मुझे न तो मेरे परिचित और प्रिय मिल्टन, शेक्सपियर, शेली इत्यादि को कविता जैसी कोई चीज लगती थी, न अपने यहाँ के रामायण, महाभारत या रघुवंश जैसी कृतियों को पढ़ने के मेरे अनुभव के ही करीब आती थी। मुझे वह दुरूह, अतिरहस्यवादी लगी और मैंने उसे छोड़ दिया। कालान्तर में अंततः श्री अरविन्द के पास मैं वापस लौटा मगर कब? तब, जब उनका 'वेद-रहस्य' पन्ना-प्रवास के दौरान मेरे पढ़ने में आया। उस एक किताब ने श्री अरविन्द के प्रति मेरी समूची दृष्टि ही बदल दी। साहित्यिक-स्वभाव के प्राणी के लिए अन्य विषयों में पैठ भी शायद साहित्यिक कारणों से ही सम्भव हुआ करती है। 'वेदरहस्य', मुझे लगा, मानो प्रतीकवादी काव्य की व्याख्या से जुड़ा कोई अद्‌भुत मर्मभेदी आलोचना-ग्रंथ हो। तो, श्री अरविन्द को मैंने सर्वप्रथम एक महान् आलोचक के रूप में जाना। उसके बाद 'फाउंडेशन ऑफ इंडियन कल्चर' पढ़कर इस बात की और पुष्टि हुई। अनिवार्यतः इसके बाद 'सिंथेसिस ऑफ योग' तथा 'एस्सेज ऑन गीता' में प्रवेश मिला। तब भी मेरी हिम्मत 'सावित्री' में छलाँग लगाने की नहीं हुई। मुझे दस साल इन्तजार करना पड़ा। तब जाकर अभी तीनेक वर्ष पूर्व ही मैं 'सावित्री' को आद्योपान्त उस तरह पढ़ सका जिस तरह कभी 'महाभारत' या 'डिवाइन कामेडी' को पढ़ा था। इसके बावजूद, मैं यह दावा कतई नहीं कर सकता कि मैं 'सावित्री' को सचमुच आत्मसात कर सका हूँ। या कि अधिकारपूर्वक उसके बारे में बोल सकता हूँ। निश्चय ही वह अरविन्द साहित्य की बीजधर्मा कृति है। किन्तु वह उन्हीं के लिए पूरी तरह मर्मोद्‌घाटक हो सकती है जो उसके भीतर कार्यरत योग-साधना के सोपानों से प्रत्यक्ष अनुभव के स्तर पर घनिष्ठ हो सकते हैं। किन्तु, जो साधक नहीं हैं, उन्हें उसमें कुछ भी नहीं मिल सकता ऐसा भी नहीं है। इतना मैं जरूर कहना चाहूँगा अपने अनुभव के बल पर, कि 'सावित्री' में प्रवेश पाने के लिए पहले श्री अरविन्द की दूसरी कृतियोंविशेषकर 'सिंथेसिस ऑफ योग' या 'मानव चक्र'का अवगाहन अत्यावश्यक, बल्कि अनिवार्य है। 'मानव-चक्र' में श्री अरविन्द मनुष्य-जाति के इतिहास का अवगाहन करते हुए उसके आगामी आध्यात्मिक युग के अनिवार्य प्राकट्य का विचार सामने रखते हैं। मानव-विकास की अनिवार्य परिणति की तरह। वे इसमें बताते हैं कि किस तरह सभी

मानव-समाजों का आरम्भ प्रतीकवादी मानसिकता से होता है। धर्म भावना और धर्मानुभूति के प्रतीकों से। वे यह भी बताते हैं कि इस अवस्था में नर और नारी दिव्य तत्त्वों के प्रतीक होते हैं; किन्तु परवर्ती सोपानों पर नारी की स्थिति हीनतर होती जाती है। उस असंतुलन को तंत्र भी ठीक नहीं कर पाता। क्या यह अपने आपमें बड़ी विचारोत्तेजक और जड़ की बात नहीं?

(4)

यह महाकाव्य महाभारत के एक उपाख्यान पर आधारित है। क्या कारण है कि कवि ने सावित्री सत्यवान की कथा को ही चुना? भारतीय विश्व-दृष्टि की पश्चिमी दृष्टि से तुलना करने पर जो एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखता है वह है नश्वरता के तथ्य का निर्भ्रांत स्वीकार। मृत्यु के पार सनातन जीवन के आलोक की अनुभूति। अब यहाँ एक विभाजन सा भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन और अनुभव के इतिहास में दिखता है, जिसे हम विभाजन की तरह न देखकर द्वंद्व-द्वैत या युग्म की स्थिति के रूप में देख सकते हैं। दो परम्पराएँ हैं, ब्राह्मण और श्रमण। अगले दौर में वे वेदांतिक और बौद्ध-जैन दृष्टियों के टकराव के रूप में सामने आती हैं। इसी तरह ऋषि और मुनि के युग्म की भी बात आती है। दोनों साक्षात् अनुभव पर आधारित और दोनों अनुभव द्वारा सत्यापनीय और दोनों के अपने शास्त्र। जोर समन्वय पर रहा है; विरोध पर नहीं। ऋषि-दृष्टि क्रान्तदर्शी कवि की दृष्टि है, जो 'वाक्' की महिमा को प्रतिष्ठित करती है; वाक्-आधारित संस्कृति का प्रवर्तन करती है। मुनि-दृष्टि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' वाली अवस्था पर एकाग्र है। एक धारा है वैदिक कर्मयोग की, जिसे जयशंकर प्रसाद 'आत्मवाद' या 'आनन्दवाद' करके अभिहित करते हैं। दूसरी वह, जिसे वे आदर्शवादी या दुःखवादी धारा के रूप में निरूपित करते हैं। यह द्वंद्व आप ठेठ समकालीन भारत के इतिहास में भी देख सकते हैं। इस फर्क के साथ, कि जहाँ स्वतन्त्रतापूर्व भारत में ऋषि-परम्परा यानी वैदिक कर्मयोग के पुनर्जीवन की सम्भावना विशेष रूप से प्रकट हो रही थी और अरविन्द तथा गाँधी के ऊपर से परस्पर-विरोधी मगर भीतर से परस्पर पूरक कर्मयोग के चलते श्रमण-परम्परा के अवदान को भी समाहित करते हुए विकसित होती दिखाई पड़ रही थी, वहीं स्वातन्त्र्योत्तर या कहें, दास्योत्तर भारत के इतिहास में एक विचित्र विडम्बना उभरकर सामने आई है। समन्वय की अपेक्षा विखण्डन की, सहयोग के बदले संघर्ष की, सांस्कृतिक आत्मविश्वास से प्रेरित कर्म और चिन्तन की जगह परोपजीवी विचारधाराओं के प्राबल्य और दासत्व की विडम्बना। यदि हमें 'सावित्री' और उसके निमित्त से श्री अरविन्द के जीवन-कार्य की समकालीन प्रासंगिकता को अपने लिए खोजना-पाना है तो हमें इस समकालीन परिदृश्य पर आँख गड़ाकर निकट और सुदूर अतीत की वास्तविक घटनाओं को देखना होगा। तब इस परिप्रेक्ष्य में ही हमें श्री अरविन्द के

कृतित्व की सही जगह दिखेगी और समझ में आएगी। बिना इस अत्यावश्यक अध्यवसाय के श्री अरविन्द या उनकी 'सावित्री' की बात उठाना या तो महज एक आनुष्ठानिक उपक्रम भर होगा या फिर महज एक 'एकेडेमिक एक्सरसाइज'। इस तरह का उपक्रम हमारे लिए, हमारे देशवासियों के सम्मुख खड़ी दुर्दान्त चुनौतियों और समस्याओं को देखते हुए, व्यर्थ का वाग्विलास ही ठहरेगा।

(5)

इस महाकाव्य का प्रारम्भ उषा-पर्व से होता है, उषा के प्रतीक से। इस पहले खण्ड में ही कवि राजयोग और गुह्यविद्या की रचनानुभूत गहराइयों में उतर जाता है। दूसरे सर्ग में विश्व-सृष्टि के सोपान-क्रम का उद्‌घाटन होता है। यहाँ सूक्ष्म भूततत्त्व के साम्राज्य से लेकर अल्पप्राण सत्ता के लोकों से गुजरते हुए महत् प्राणसत्ता के लोकों और देवताओं की बात कही गई है। एक और मनोमय कोष की आत्मा की, दूसरी ओर विश्वात्मा की। तीसरा पर्व अदिति-पर्व है जिसमें आत्मा के अधिष्ठान की, नई सृष्टि की बात उभरती है। तब जाकर दूसरे खण्ड में सावित्री अर्थात् महाकाव्य की नायिका फोकस में आती है। जन्म और अभीप्सा का पर्व है यह; ज्योति का जन्म और शैशव, ज्योति का बढ़ना, जीवन-ध्येय के बोध का उदय। पाँचवें पर्व में सत्यवान-सावित्री के प्रेम-प्रसंग का सांकेतिक चित्रण है। छठा पर्व नियति-पर्व कहलाता है। इसमें नियति और दुःख की समस्या का मंथन है। सातवाँ पर्व पूरी तरह योगपर्व है। सावित्री-सत्यवान के मिलन के उल्लास पर मृत्यु के पूर्व-ज्ञान और तत्संभूत वेदना की छाया और कठोरतम अग्नि-परीक्षा भी इसी मेल में। तब हम जाकर देखते हैं कि कवि इस कथा को आत्मा की खोज की रूपक कथा की तरह प्रत्यक्ष कर रहा है। इसी सिलसिले में वह अनुभवगम्य अन्तर्वर्ती लोकों में प्रवेश करता है। आत्म-साक्षात्कार के क्रमिक सोपानों पर आरोहण करते हुए निर्वाण और शून्य की खोज करता है। और उसे भी अतिक्रान्त करने का मार्ग खोजता है। आठवाँ पर्व मृत्यु-पर्व कहलाया है। अरण्य में सत्यवान की मृत्यु होती है। नवाँ पर्व मृत्यु के काले खोखल का साक्षात्कार है। अनन्त अभेद्‌य तमिस्रा के भीतर की यह यात्रा है। मृत्यु, अर्थात् यमराज सावित्री को अपने आदर्श से, संकल्प के विरत करने के लिए तमाम तरह के तर्क देते हैं। यह प्रेम और मृत्यु का मार्मिक संवाद है। ग्यारहवाँ पर्व उपलब्धि का पर्व है। सावित्री की विजय का, आत्मा के वरण-स्वातन्त्र्य का।

(6)

कैसा महाकाव्य है यह? मनुष्य का? या कि अतिमानस के अवतरण का? जो भी रचनाएँ इस महाकाव्य की विधा की हमने पढ़ी हैं वे क्या हमें इसके लिए तैयार करती हैं? किन्तु है तो यह हमारी अपनी परम्परा ही। है तो इसका मूल महाभारत के एक प्रसंग में ही। यानी, मृत्यु के स्वीकार का ही नहीं, मृत्यु के पार जाने का, मृत्यु को भी लाँघने के असंभव से पुरुषार्थ का। और यह भी एक नारी के द्वारा। फिर भी यह बात कोई अजूबा तो नहीं है। समस्या के रूप में तो यह विषय-वस्तु हजारों वर्ष पहले भी विद्यमान थी। नहीं थी क्या? कठोपनिषद् का नचिकेता-आख्यान और क्या करता है?

परन्तु सावित्री दान्ते की 'डिवाइन कामेडी' की तरह रूपकथात्मक (अलेगोरिकल) होते हुए भी सिलसिलेवार कथा प्रस्तुत करने और चरित्रों के चित्रण को, घटना-क्रम को महत्त्व देते हुए उभारने का वह पारम्परिक ढंग नहीं अपनाती। उसका मुख बाहर के तुमुल कोलाहल भरे घटनात्मक संसार की तरफ नहीं, भीतर की तरफ है; और वह भी मनोविज्ञान जिस 'भीतर' को जानने का दावा करता है, उस भीतर के भी भीतर की तरफ है। घटनाएँ हैं, चरित्र हैं, कथोपकथन, सुदीर्घ संवाद, पृष्ठभूमि, अन्तःकथा इत्यादि भी सब हैं। किन्तु वे अपने आपमें महत्त्वपूर्ण या पाठक की कुतूहल वृत्ति को रमानेवाले नहीं हैं। कवि की दृष्टि पूरी तरह चेतना के उस 'ऐडवेंचर' पर ही एकाग्र है जो मृत्यु के तमसावरण को भेदने के लिए प्रतिश्रुत है। कथा के हर अवयव का संयोजन उसी उद्देश्य, उसी साध्य को समर्पित है और इसके लिए जो साधना अभीष्ट हैप्राणों की साधनामानों जीव सृष्टि, विशेषकर, मानव जीव की सृष्टि के साथ ही आरम्भ हो चुकी साधनाअसली कथा उसी की है और सावित्री-सत्यवान उसके निमित्त संवाहकउसे चरम परिणति तक पहुँचाने की प्रक्रिया को वहन करनेवाली अदम्य मानवीय अभीप्सा के जीवन्त प्रतीक। चूँकि यह अदम्य अभीप्सा मानव की अवश्यंभावी नियति के रूप में पूर्वस्वीकृत और पूर्वनियत सी है अतः मानवीय भावनाओं के घात-प्रतिघात और संघर्ष, त्रासदी या कामेडी का वह ड्रामा भी यहाँ अप्रासंगिक हो जाता है जो मिल्टन और दान्ते के यहाँ हमें मिलता है। यहाँ जो 'ड्रामा' है, वह वास्तविक मानव-जगत् और मानव चरित्रों की क्षुद्रता या विलक्षणता पर अवलम्बित नहीं। चेतना का निर्वैयक्तिक स्वभाव, चेतना की दिक्-काल को अतिक्रान्त करके ही स्वयं को और चराचर जगत् को उसके मूलाधार पर ही पकड़ने-पहचानने और बदलने-रूपान्तरित करने की ऐसी जिद्दी आस्था हमारे जाने-पहचाने वास्तविक या औपन्यासिक चरित्रों की तरह हमारी मानवीय दिलचस्पी या कुतूहल को जगाने-रमाने-तृप्त करनेवाली कैसे होगी? यूँ कथा हमें मालूम है और कवि ने इसी को क्यों चुना, यह भी हमें मालूम है। महाभारतकार के लिए भी कथा का मर्म-अभिप्राय महत्त्वपूर्ण थायह भी हमारे लिए यानी महाभारत पढ़ चुके और इस प्रसंग को यथास्थान भली प्रकार स्वायत्त कर चुके पाठक के लिए भी स्पष्ट है। मूल प्रेरणा वहीं से आई है तो भी, महाभारतकार जितनी देर और जिस तरह इस छोटे से उपाख्यान पर ठहरते हैं, उसे देखते हुए, यह कल्पना सचमुच कठिन है कि कोई इसी को भविष्य में एक सम्पूर्ण महाकाव्य का विषय बनाएगा। सारी मार्मिकता के बावजूद न तो लोक-साहित्य में, और न तथाकथित शिष्ट साहित्य में ही इस उपाख्यान को वह व्याप्ति और साहित्यिक

प्रतिष्ठा मिली, जो अन्य उपकथाओं को। लोक में भी उसका प्रचार किसी महत् उद्देश्य से नहीं, मात्र पातिव्रत्य-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए हुआ और इस एक बात ने मानों हमेशा-हमेशा के लिए उसकी अर्थ-सम्भावनाओं को अवरुद्ध कर दियाउसे एक बहुत ही तंग और गलत लीक पर डालकर। लोक में इस आख्यान की महिमा यहीं तक जड़ीभूत हो रही, मानो महाभारतकार का भी यही दृष्टिकोण रहा हो और पातिव्रत्य-धर्म की महिमा दिखलाने को ही उसने इस कथा को नियोजित किया हो। आपाततः वैसा मानकर चलने का आधार वहाँ है भी। जिस जगह यह आख्यान नियोजित हुआ है, उस प्रकरण में मूलकथा के प्रवाह में महत्त्व मूल कथा का ही बनता है, उपाख्यान पर एकाग्र होकर उसकी इतर सम्भावनाओं को विवृत करने की चुनौती उस तरह महसूस नहीं होती। उसका छुपा हुआ मर्म भी उस तरह उजागर नहीं होता। यह तो सृजन प्रतिभा से सम्पन्न कोई परवर्ती कवि या नाटककार ही सम्भव कर सकता है जो उसे पहचाने और उस पहचान से इस कदर उन्मेषित हो उठे कि उस अर्थ के उन्मीलन में प्रवृत्त हो, उसे अपनी कल्पना शक्ति से एक महाख्यान का अवकाश और विस्तार रचते हुए चरितार्थ कर दे। मुझे नहीं मालूम, कि सावित्री के उपाख्यान ने परवर्ती युगों के किसी भी कवि या नाटककार को उस स्तर पर उन्मेषित किया या नहीं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, नहीं ही किया होगा। अन्यथा कोई स्वतन्त्र कृति संस्कृत अथवा कालान्तर में विकसित हुई अन्य भारतीय भाषाओं में से किसी में तो जन्म लेती।

वैसा नहीं हुआ क्योंकि इस कथा की वस्तु में उस तरह वैसे भाव-वैविध्य, लौकिक उतार-चढ़ाव, संघर्ष आदि का कोई महत्त्व नहीं बनता। असली मर्म तो लौकिक कर्म-व्यापारों से परे सावित्री और यम के बीच जो कुछ घटित हुआ, उसमें निहित है और वहीं नाटककार या कवि के लिए चुनौती खड़ी होती है क्योंकि जो कुछ नाटकीय या मानवीय अनुभव सुलभ हैं वे तो जीवन और मृत्यु की देहरी के इस पार ही सुलभ होते हैं। मर्त्यलोक ही साहित्य का उपजीव्य है। सारी कथा यहीं मृत्यु के साथ समाप्त हो जाती है। मगर इस कथा का तो सारा मर्म ही देहरी के उस पारमृत्यु के देवता के साक्षात्कार तथा सामान्य चेतना के सीमान्तों के पार घटित होनेवाले आत्म-साक्षात्कारी अभियान से ताल्लुक रखता है और वह सामान्य अनुभव से एकदम बाहर, एकदम परे की चीज है। कोई रचनाकार ऐसी 'वस्तु' को लेकर लिखे भी तो क्या और कैसे? यह नल-दमयन्ती की कथा तो है नहीं, जो देश-देशान्तरों में फैलकर धूम मचाए। स्वर्ग और नरक की कथा तो यूँ बाइबिल में भी मिलती है और मिल्टन, दान्ते सरीखे महाकवियों की कल्पना-शक्ति ने उसी में से नितांत मौलिक मानवीय मार्मिकता से पूर्ण अर्थ-लोकों की सृष्टि भी कर दिखाई है। किन्तु आप दोनों महाकाव्यों का अध्ययन करें तो पाएँगे कि उन्हें ऐसे दैहिक-प्राणिक-मानसिक आलम्बन सुलभ हैं जो सावित्री के आख्यान में सम्भव ही नहीं हैं। न वहाँ शैतान का चरित्र खड़ा हो सकता है जिसमें मिल्टन स्वयं अपने जीवनानुभवों का और लौकिक आवेगों का आरोपण चमत्कार पूर्ण ढंग से कर सकें, न ही वहाँ दान्ते की तरह कवि के लिए वास्तविक इहलोक के जाने-माने दिवंगत चरित्रों की वास्तविक जीवनियों का मूल्यांकन करने की और स्वयं अपने नागरिक-राजनीतिक अनुभवों का दोहन करते हुए उनसे उबरने की छटपटाहट-भरी प्रेरणा ही काम आ सकती है। 'सावित्री' की कथा के मर्म का नाटक खड़ा करने के लिए उस प्रकार की जीवनीगत या ऐतिहासिक सामग्री के उपयोग की कहीं कोई गुंजाइश नहीं। उस तरह की भावनात्मक वैचारिक सामग्री वहाँ अप्रासंगिक है। उस मर्म में प्रवेश करने के लिए वह सूक्ष्म अनुभव-सम्पदा चाहिए, चेतना का वह जोखिम से भरा 'ऐडवेंचर' चाहिए जो कवियों कलाकारों को सामान्यतः सुलभ नहीं हुआ करता और जिनकी उन तक पहुँच होती है, वे योगी और संत बनते हैं, कवि-नाटककार नहीं बनते। उन्हें उस तरह चेतना के सीमान्तों के अलौकिक और अमूर्त से अनुभवों को भाषानिबद्ध करके मानव-चेतना का अंग बना देने की कवि- सुलभ आकांक्षा भी नहीं व्यापती। न उस तरह की अभिव्यक्ति-क्षमता या भाषिक प्रतिभा ही उनमें होती है। अर्थात् इस आख्यान के मर्म को काव्याभिव्यक्ति देने की प्रेरणा भी उसी को हो सकती है और वैसी प्रेरणा को चरितार्थ भी वही कर सकता है जिसमें दो एकदम भिन्न क्षमताओं का असम्भव सा मेल होजिसमें उच्चकोटि की आध्यात्मिक प्रतिभा भी हो और उच्चकोटि की भाषिक सर्जना-शक्ति भी। लगता है जैसे सावित्री की कथा सदियों-सहस्राब्दियों से ऐसे ही विरल संयोग की प्रतीक्षा कर रही थी और श्री अरविन्द के रूप में उसे वह व्यक्ति-माध्यम मिल गया। श्री अरविन्द ने कथा-वस्तु का चुनाव नहीं किया बल्कि कथा-वस्तु ने ही श्री अरविन्द नाम की विभूति का वरण किया। अपने वास्तविक और सम्पूर्ण अर्थोन्मीलन हेतु।

वस्तुतः देखा जाए तो असली कथा तो एक ही दिन में घटित हो जाती है। वह दिन, जिस दिन सत्यवान की आयु पूरी होनेवाली है। सत्यवान इस त्रासदी से अनभिज्ञ है पूर्णतः। किन्तु सावित्री को तो पता है सब कुछ। अकारण नहीं, कि प्रथम सर्ग जैसे ही पाठक पूरा करता है, अचानक और सर्वथा अप्रत्याशित ढंग से वह स्वयं को इस समापक पंक्ति के सम्मुख खड़ा पाता है।

> "दिस वाज दि डे व्हैन सत्यवान मस्ट डाइ"
> (यह था वह दिनमरना है जब सत्यवान को)

पाठक अचकचा-सा जाता है। पूरे सर्ग में अभी तक उसे मानवी जीवन के सामान्य सरोकारों की कोई भनक तक नहीं मिली थी। यह सत्यवान एकाएक कहाँ से आ गया? और आया भी तो कैसे? अपनी आसन्न, अवश्यंभावी मृत्यु को लेकर तो क्या जहाँ इस लौकिक मर्त्य मानव के लौकिक जीवन का अन्त है, वहीं से यह महाकाव्य आरम्भ होने जा रहा है? कैसा आरम्भ है यह? नहीं, आरम्भ तो बहुत पहले

हो चुका थाइस पंक्ति से

> "इट वाज दि आवर बिफ़ोर दि गॉड्ज अवेक..."
> (यह मुहूर्त था देव-जागरण से पहले का)

तनिक इस अद्‌भुत विरोधाभास पर ध्यान दें। कहाँ देवताओं के जागरण से भी पहले के ब्राह्ममुहूर्त की घड़ी! और कहाँ उसी दिवस की अवसान-वेला में सत्यवान की अवश्यंभावी मृत्यु का संकेत। क्या इसी विरोधाभास में मर्त्य-मानव के भीतर निहित अमरता कीजीवन में सनातन की खोज कीकथा-वस्तु का पूर्वाभास नहीं पढ़ा जा सकता?

अब, यहाँ से सीधे वहाँ आ जाएँ जहाँ महाकाव्य का लगभग समापन हो रहा है। अर्थात् अन्तिम (ग्यारहवें) सर्ग के उपसंहार पर, जहाँ कथा लगभग पूरी हो चुकी है। क्या कह रही हैं ये पंक्तियाँ

> "अ की टर्न्ड इन अ मिस्टिक लॉक ऑव टाइम
> बट व्हेर दि साइलेंस ऑव दि गॉड्ज हैड पास्ड
> अ ग्रेटर हार्मनी फ्रॉम दि स्टिलनेस बॉर्न
> सर्प्राइज्ड विद ज्वॉय ऐंड स्वीटनेस यर्निंग हार्ट्ज
> ऐन एक्सस्टेसी ऐंड लाफ्टर ऐंड अ क्राइ
> अ पावर लीन्ड डाउन, अ हैप्पीनेस फाउंड इट्ज होम
> ओवर वाइड अर्थ ब्रूडेड दि इन्फिनिट ब्लिस।"

अर्थात् "महाकाल के रहस्यमय ताले की कुंजी मिल गई है। जहाँ देवताओं का अभेद्य मौन पहरा दे रहा था वहाँ एक नूतन संगति और संगीत का आविर्भाव होने को है। उसी महामौन में से। अभीप्साकुल हृदयों में एक नई अभूतपूर्व आनन्दानुभूति का संचार करती हुई।" क्या यह अन्त उतना ही अमूर्त उतना ही दुरूह पहेली जैसा नहीं लगता? कविता और अध्यात्म का संयोग क्या बिना इस रहस्यवादी कुहेलिका के अब भी सम्भव नहीं? परन्तु अभी अन्त कहाँ हुआ है कथा का? अभी तो आगे महाभारत के 'स्वर्गारोहण' पर्व की तरह एक और पर्व बाकी है। नहीं, पर्व नहीं, एपिलॉग। यानी उपसंहार और उसका शीर्षक स्वर्गारोहण के ठीक विपरीत 'पृथ्वी की ओर वापसी' है। आरम्भ की पंक्ति क्या कह रही है?

> "आउट ऑव अबिस्मल ट्रांस हर स्पिरिट वोक
> लेन ऑन दि अर्थ-मदर्स काम इनकौंशेंट ब्रेस्ट।"

इस शब्द-युग्म पर ध्यान दें, *'अबिस्मल ट्रांस'*। किस कदर अर्थगर्भित व्यंजना है इस पद की। सावित्री सचमुच ही विलक्षण, अभूतपूर्व नायिका है, विश्व-साहित्य की, महाकाव्यों के इतिहास की भी पहली नायिका, जिसकी भूमिका दान्ते की बिएत्रिचे से

कहीं ज्यादा गहरी, और विलक्षण है। इसलिए, कि उसमें स्त्री होते हुए भी स्त्री और पुरुष दोनों की एकीभूत अभीप्सा और सारे जोखम उठानेवाली शक्ति प्रगट हुई है। या, यूँ कहना होगा कि उसमें स्त्री तत्त्व की ऐसी पुंजीभूत ऊर्जा प्रकट हुई है जो सृष्टि की आद्याशक्ति का ही प्रतीक बन गई है : जीती-जागती प्रतीकजिसका कोई तुलनीय उदाहरण अभी तक के काव्य में नहीं मिलता। क्या सावित्री का पराक्रम, सावित्री का धृति-उत्साह-समन्वित चरित और कर्म किसी भी महाकाव्य के पुरुष-नायक (और महाकाव्यों के चरितनायक तो सदैव सर्वत्र पुरुष ही रहे हैं न?) के पुरुषार्थ से तुलनीय है? क्या वह पराक्रम और पुरुषार्थ की एक सर्वथा नई और अभूतपूर्व परिभाषा नहीं गढ़ देती। 'अबिस्मल ट्रांस'! सचमुच ही क्या सावित्री ने मृत्यु के अतलान्त महागर्त पर ही समाधि लगाकर उस अँधेरे अज्ञात में छलांग नहीं लगा दी थी? जिसकी परिणति दिव्य जीवन के साक्षात्कार में ही होनी थी? सत्यवान की मृत्युलोक से वापसी, उसका पुनरुज्जीवनमनुष्य मात्र के ही आमूलचूल रूपान्तरण और दिव्य जीवन का प्रतीक बनकर उभरता है। और सावित्री?

> नाउ इन हर स्पेसलेस सेल्फ रेलीज्ड फ्रॉम बाउण्ड्स
> अननम्बर्ड इयर्स सीम्ड मोमेण्ट्स लौंग ड्रॉन आउट

इतना ही नहीं,

> हर लाइफ वॉज डॉन्स विक्टोरियस ओपनिंग
> दि पास्ट ऐण्ड अनवॉर्न डेज हैड फाउंड देयर ड्रीम्ज [1]

महाकाव्य की एकदम प्रारम्भ की पंक्ति की याद आ जाती है। देवताओं के जागरण से पहलेब्राह्ममुहूर्त से ठीक पहले का क्षण। अब यह सावित्री की "दिक्कालमुक्त आत्मजयी आत्मा के क्षितिज पर भासती विजयिनी उषा के आविर्भाव का" क्षण है और यही सावित्री का वास्तविक जीवन है जिसमें "अतीत और भविष्य के समस्त स्वप्नों का संगम" घटित होने जा रहा है। सत्यवान की पुनरुज्जीवित देह और आत्मा शिशु की तरह सावित्री के वक्ष में समाहित है। कितना सुन्दर और सार्थक बिम्ब उकेरा है कवि ने।

> लेन लाइक एन इन्फेंट स्पिरिट अनअवेयर
> लल्ड ऑन दि वर्ज ऑफ टू कन्सेंटिंग वर्ल्ड्स

दो परस्पर-संवादी संसारों के सम्मिलित सीमान्त पर मानो अभी-अभी जनमे शिशु की तरह बेखबर सोई हुई सत्यवान की पुनरुज्जीवित जीवात्मा का यह बिम्ब कितना कुछ कह देता है! हाँ यह सचमुच 'सत्यवान' के जागने की घड़ी है। पृथ्वी, उसका घर उसे वापस मिल गया है और उसकी चाहत का सार-सर्वस्व सावित्री भी। और जागने के क्षण में ही उसकी दृष्टि सावित्री की दृष्टि से, हाथ सावित्री के हाथों के स्पर्श से एक होकर अपनी सम्पूर्ण संज्ञा पा लेते हैं।

अवेक ही फाउण्ड हर आइज
वेटिंग फॉर हिज ऐण्ड फैल्ट हर हैंड्स ऐण्ड सॉ
दि अर्थ हिज होम गिवन बैक टु हिम वन्स मोर
ऐण्ड हर मेड हिज अगेन, हिज पैशन्स ऑल [2]

कैसा मार्मिक है वह संवाद, जो अब मृत्युंजयी सावित्री और पुनरुज्जीवित सत्यवान के बीच घटित होता है। सत्यवान कहता है, “मुझे लग रहा है सावित्री, जैसे जाने कितने आश्चर्यलोकों की सैर करके लौटा हूँ मैं तुम्हारे साथ...।”

फॉर श्योर्ली आई हैव ट्रैवल्ड इन स्ट्रेंज वर्ल्ड्स
बाइ दी कम्पेनियन्ड

बन्धु-बांधव जो उन्हें खोजते हुए वहाँ पहुँचते हैं और जानना चाहते हैं, वे कहाँ भटक गए थेक्यों लौटने में इतनी देर हुई, उन्हें सत्यवान उत्तर देता है“इससे पूछो, सावित्री से। मैं कुछ नहीं जानता। यही है सब कुछ का कारण।”

महाकाव्य का समापन जिस दृश्य से होता है, वह हमें मिल्टन के ‘पैराडाइज लॉस्ट’ के अन्तिम पंक्तियों के मार्मिक बिम्ब की याद दिला देता है। आदम और ईव की तरह एक-दूसरे का हाथ पकड़े सत्यवान-सावित्री चिरपरिचित पृथ्वीलोक में अपने घर की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। किन्तु दोनों बिम्बों के बीच अन्तर हैमूलभूत अन्तर। मिल्टन के यहाँ आदम और ईव स्वर्ग से निष्कासित होकर पृथ्वी को प्रस्थान कर रहे थे। जबकि सत्यवान और सावित्रीप्रदीप्त मशालों के बीच से गुजरता हुआ यह नर-नारी युग्मदिव्य जीवन के साक्षात्कार का वरदान लेकर अपने घर लौट रहा है।

डीप गार्डेड बाइ हर मिस्टिक फोल्ड्स ऑव लाइट
ऐण्ड इन हर बुजम नर्स्ड आ ग्रेटर डॉन [3]

सन्दर्भ

(हिन्दी पद्यानुवाद लेखक द्वारा)

1. “अब उसकी उस दिग्विहीन निस्सीम मुक्त आत्मा में
   वर्षों का विस्तार प्रलम्बित पल-प्रतिपल सा
   जीवन उसका जयलक्ष्मी का उषा-अवतरण
   विगत-अनागत के स्वप्नों की लब्ध पूर्णता।”
2. “धरा-धाम उसका वापस मिल गया उसे फिर
   और, संगिनी भीजो है सर्वस्व उसी के
   प्राणों की चाहत का।”
3. संगोपित वहअपने ही आलोक-वलय में
   और...सँजोए हुए हृदय में
   एक महत्तर
   ज्योतिष्मती उषा को

देखा जाएगा

शंकर पुणतांबेकर*

आगरा विश्वविद्यालय की मार्च 1950 की एम. ए. की परीक्षा के निबंध के परचे में जो पन्द्रह-सोलह विषय किसी एक पर निबंध लिखने के लिए दिए गए थे उनमें एक थादेखा जाएगा। मैं उस वर्ष इस परीक्षा में बैठा था। शेष निबंध परीक्षा में निर्धारित प्राचीन कवि, आधुनिक कवि, आधुनिक गद्य, भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र आदि के अनुरूप थे, जैसे प्राचीन कवि में ‘सूर सूर तुलसी ससि’ अथवा काव्यशास्त्र में ‘यथार्थानुभूति और काव्यानुभूति’। तेरहवें-चौदहवें स्थान पर इस ‘देखा जाएगा’ विषय को देखकर मुझमें एक हलकी सिहरन दौड़ गई। और मैंने परीक्षक की सूझ-बूझ की दाद दी। सोचा अवश्य ही इस पेपर के सेटर बाबू गुलाबराय होंगे। छात्रों की कल्पनाशीलता को अवसर देनेवाला कैसा अनोखा विषय। और तय किया मैं इसी विषय पर लिखूँ। और विषयों में तो औरों की बात लिखूँगा पढ़ी-पढ़ाई, इसमें मैं अपनी खुद की लिखूँगा मौलिक। परीक्षक भी इसे पढ़ने में खास रुचि लेगा और अंक भी कुछ अधिक दे दे।

पर मैंने यह विषय नहीं चुना। हिम्मत नहीं हुई। सोचा क्या लिख पाऊँगा पन्द्रह-बीस पृष्ठ? कल्पनाशीलता ने बीच में ही जवाब दे दिया तो? मैं कहानियाँ लिखता रहा हूँ और यह निबंध हैपरीक्षा का निबंध। कैरियर का सवाल है। परीक्षा में केवल पास नहीं होना है, क्लास पाना है।

मैंने ‘यथार्थानुभूति और काव्यानुभूति’ पर लिखा। रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक ‘चिन्तामणि द्वितीय भाग’ मुझे इस विषय के लिए खूब सहायक सिद्ध हुई। मैंने उनका साधारणीकरण वाला लेख और रसानुभूति का विवेचन ऐसे पढ़े थे कि एक-एक शब्द मुझमें समा गया था।

पर ‘देखा जाएगा’ विषय मुझे ऐसा भा गया कि पेपर दे देने के बाद सोचा इस पर मैं घर पर लिखूँगा। अच्छा ललित निबंध बन पड़ेगा यह। पर जब-जब लिखने की बात पर आता, सोचता आगे कभी लिखूँगा। इस तरह ‘देखा जाएगा’ खुद देखा जाएगा की उपेक्षा का शिकार बनता रहा।

---

*शंकर पुणतांबेकर हिन्दी के जाने-माने लेखक हैं। पता : मायादेवी नगर, जलगाँव-2

और आज कोई उनचास वर्ष बाद 1999 की जनवरी में मैं इस विषय पर लिख रहा हूँ, अपनी निबंध-योजना में पहला ही निबंध। सोचा, 'देखा जाएगा' पर देखा जाएगा क्यों करता रहा इतने वर्ष? सम्भवतः इसलिए कि इस पर लिखना इतना आसान नहीं था। पर तीस वर्ष पूर्व जब मैंने 'नहीं की आत्मकहानी' जैसे अमूर्त विषय पर लिखा था तो यह तो इतना अमूर्त नहीं था।

हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं, था विषय आह्वानात्मक। और आह्वानों से बचने की हम नित्य कोशिश करते हैं। लेखन अपने आपमें आह्वान है। भाव-विचार हमें जैसे ललकारते हैंतुम हमें पकड़ नहीं सकते। पकड़ भी लो तो वह पकड़ ऐसी नहीं होगी जो लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सके। या हमारे स्थूल को, हमारे सामान्य को पकड़ा तो क्या पकड़ा। क्या तुममें हमारे सूक्ष्म को समेटने की और गहरे में पैठने की ताब है?

बहुत कम होते हैं तो यह आह्वान पेल पाते हैं। खूब मशक्कत करनी पड़ती है तभी सम्भव होता है यह। हम मशक्कत से बचते हैं और शार्टकट खोजते हैं। पर कुंजियाँ हमें पास तो करा देती हैंनाम, प्रतिष्ठा, पैसा तो दे देती हैं, पर जिन्दगी के टेक्स्ट से ये साक्षात्कार नहीं करा पातीं। साक्षात्कार के लिए टेक्स्ट पर खुद मशक्कत करनी होती है। फिर एक बात और। आज का अधिकांश लेखन भाषा-प्रभुत्व का लेखन है। और यह भाषा-प्रभुत्व भाव-विचारों के साथ मात्र-अखाड़ेबाजी करता है।

लेखन में भाषा-प्रभुत्व चाहिए, अवश्य चाहिए, पर कूची की कुशलता ही तो चित्र नहीं। चित्र को पहले हृदयंगम करना होता है। हृदयंगम वह तभी हो पाता है हृदय जब धो-पोंछकर कोरा हो। पर हमारा हृदय तो पहले ही अंकन से जुड़े स्वार्थों से धुँधलाया रहता है।

बड़ा विचित्र आह्वान है लिखना। उन्हीं से आह्वान जो हमारे दुश्मन नहीं हैं। भाव-विचार जो हमें ललकारते हैं हमारे दुश्मन नहीं होते। रावण का क्रोध या उसकी नीति राम की दुश्मन हो वाल्मीकि या तुलसी की तो नहीं। तथापि रावण के क्रोध या उसकी नीति के आह्वान को वाल्मीकि और तुलसी तभी पेल पाएँगे जब इनका हृदय धो-पोंछकर राम बना हुआ हो। और यह कितना कठिन काम है। प्रायः हममें वाल्मीकि और तुलसी की भाषाशक्ति तो होती है, पर उनके जैसा हृदय नहीं।

और यही यथार्थानुभूति से भिन्न काव्यानुभूति हमारे सामने आ जाती है। काव्यानुभूति में हम हम नहीं रह जाते यथार्थ के तीसरे ही बन जाते हैं कल्पना के। तभी तो ट्रेजडी भी आनन्द का कारण बनती है।

'देखा जाएगा' पर आऊँ।

सामान्य से दो शब्द हैं ये। रोजमर्रा के। जाने-अनजाने हमारे मुँह से यदा-कदा निकलनेवाले। ये शब्द ऐसा भी नहीं कि मिलकर मुहावरा बनते हों।

सामान्य पर कितने अर्थवाही। प्रमुखतः अपने लिए निश्चिन्तता जताते और दूसरों के लिए उपेक्षा। जैसे 'जो कुछ होगा देखा जाएगा' और 'ठीक है करने दो आन्दोलन देखा जाएगा।'

निश्चिन्तता और उपेक्षा दोनों ही भाव हमारे अहंभाव के द्योतक हैं। अहं जो आदमी के बाहर की उपज होता हैपद, पैसा, प्रतिष्ठा की।

किन्तु निश्चिन्तता और उपेक्षा दोनों ही जहाँ अहंभाव के द्योतक हैं, वहाँ सतभाव के भी। सत तो आदमी के अन्दर की उपज होता हैमूल्य, संस्कार, निस्पृहता की।

मैं ऐसा हतभागी कि मुझमें अहंभाव पैदा हो ऐसा मुझे कभी अवसर ही नहीं मिला। सो ऐंठ अथवा तुच्छता-भरा 'देखा जाएगा' मेरे मुख पर कभी न चढ़ सका।

दूसरे सतभाव की मैं डींग नहीं हाँकता। इस भाव के साये में 'देखा जाएगा' कहकर जब भी मैंने अपने अन्दर के आत्मविश्वास को जताया, लोगों ने इसे मेरी कमजोरी समझा।

वैसे सामान्य रूप से 'देखा जाएगा' उच्च वर्ग की बेशरमी, मध्य की तटस्थता और निम्न की बेबसी जताता है। उच्च को ललकारिए। उस पर असर नहीं होगा। वह बड़ी बेरहमी से ललकार की ओर से मुँह मोड़ लेगा। उसके पास पैसे की सेना जो है, उसकी रक्षा के लिए और ललकार पर टूट पड़ने के लिए। आदमी को बिगाड़ने में पैसे की पहली स्टेप है उसे बेशरम बनाना। समाज-विमुखता बेशरमी का पहला लक्षण है जो आदमी को आत्मकेन्द्रित बना देता है।

सो 'देखा जाएगा' की बेशरमी में उच्च आदमी की स्वयं को छोड़ बाहर की दुनिया होती ही नहीं। उसमें यह अहं होता है कि वह दुनिया की आवाज को दबा सकता है, वह आवाजियों को खरीद सकता है।

राजनेताओं की पहली पीढ़ी देश समर्पितों की थी। इनकी इधर जो दूसरी पीढ़ी चल रही है 1980 के बाद की, वह देश समर्पितों की नहीं धन समर्पितों की है।

राजनीति में आज जो 'देखा जाएगा' की इतनी बेशरमी आई है वह इन्हीं धन समर्पित नेताओं की उपज है। इनके लिए पद, पैसा, प्रतिष्ठा ही सब कुछ रहा, सतभाव के साए में पल रहे मूल्य, संस्कार, निस्पृहता के आह्वान को इन्होंने अपने स्वार्थ के पीछे छिन्न-भिन्न कर दिया।

हाँ, मैंने देखा 1980 के बाद बड़ी शिद्दत से यही हो रहा है। आज इस शताब्दी के अन्तिम छोर पर बिहार के लालू यादव और चेन्नई की जयललिता के रूप में यह बेशरमी अपने पूर्ण चरम पर है। खलनायक ही नायक बन बैठे। धन में इतनी ताकत कि मीडिया भी इनके हाथों बिक गया।

मध्यवर्ग का 'देखा जाएगा' जिसमें तटस्थता समाहित है, जहाँ गुण है वहाँ दोष भी।

सत्याधिष्ठित तटस्थता गुण ही तो होती है। इसमें अपने लिए उस साधु की निश्चिन्तता है जो डाकू से भी भय नहीं खाती, तुच्छ लेख उसकी उपेक्षा करती है। सत्याधिष्ठित यह तटस्थता वह अमृत है जो दुनिया के किसी भी विष की चिन्ता नहीं करती।

सत्याधिष्ठित तटस्थता विशेष रूप से शिक्षा में, अखबार में और न्याय में देखी जाती है।

किन्तु यही तटस्थता दोष है यदि यह उपेक्षा जताती है उस बेशरमी के प्रति जो हमारे मूल्यों-संस्कारों को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है। यह तटस्थता फिर कितनी ही सत्याधिष्ठित हो। इस दशा में तटस्थता तटस्थता नहीं रह जाती उदासीनता बन जाती है और मध्यवर्ग की इस उदासीनता का ही नतीजा है कि उच्चवर्ग की बेशरमी बेरोकटोक फल-फूल रही है।

निम्नवर्ग के बेबसीवाले 'देखा जाएगा' की क्या बात करूँ। इस 'देखा जाएगा' में भाग्यवाद काम करता है जो अपने शोषकों-अन्यायियों के खिलाफ क्रान्ति नहीं करने देता।

इन तीन वर्गों के 'देखा जाएगा' को क्रमशः अक्खड़, फक्खड़ और भुक्खड़ 'देखा जाएगा' कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त एक और कोटि का 'देखा जाएगा' है जिसको मैं डॉन क्विग्जोटी 'देखा जाएगा' कहूँगा। अपनी जिन्दगी के कुछ डॉन क्विग्जोटी देखा जाएगा मैं यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

1940-41 में कभी ग्वालियर की बात है जब मैं हाईस्कूल में था। ग्वालियर में मैं और सदाशिव भाईसाहब छुट्टी के दिन देवखो, गुप्तेश्वर, भेलसेवाली देवी जैसी दूर जगहों पर दामोदर, सोनूभैया जोशी जैसे यार-दोस्तों के साथ घूमने चले जाया करते थे। ये जगहें इतनी दूर थीं कि आते-जाते पैर खूब थक जाते थे और भूख भी जोरों की लग आती थी। भटकने की जगहों में एक और थी कुँवरबाबा की बावड़ी। इस बावड़ी में हम घण्टों तैरते भी थे। इस बावड़ी के मध्य में कई पुरुष गहरा पानी था। इस मध्यभाग में तैराक बावड़ी के ऊपर से छलाँग मारते थे। छलाँग मारने के लिए बावड़ी के मध्यभाग को केन्द्र में रख ऊपर खास घाट बना हुआ था। इस घाट से नीचे बावड़ी की गहराई साठ-सत्तर फुट से कम नहीं थी। घाट पर से नीचे बावड़ी में देखते बड़ा डर लगता था। इसलिए छलाँग लगाना सामान्य बात नहीं थी। पर कुँवरबाबा की बावड़ी में नहाने की विशेषता यही छलाँग थी। जमकर आठ-दस छलाँगें नहीं मारीं तो कुँवरबाबा नहाने का कोई मतलब ही नहीं। तैरना ही है तो किसी तलैया-वलैया में जाकर तैरो। मेरे बड़े भाईसाहब, दामोदर, जोशी इस बावड़ी में ऐसे छलाँगें लगाते जैसे पाँच-छह फुट नीचे ही लगानी हों। मैंने कभी हिम्मत नहीं की। चढ़कर ऊपर घाट पर जाता जरूर, पर वहाँ से जब नीचे झाँकता तो रूह काँप उठती। सुना था हर वर्ष इस बावड़ी में दो-तीन छलाँगमार पानी के अन्दर चट्टान की चोट खाकर मर जाते हैं। इस मामले में यह बड़ी खतरनाक बावड़ी थी। गलत छलाँग का नतीजा। छलाँग बिलकुल मध्यभाग में आनी चाहिए। मैं सोचता और लोग कितनी सहजता से कूद जाते हैं और मैं ऐसा बुजदिल! एक दिन मैंने ठान ही ली कि आज हार नहीं खाऊँगा। वैसे मुझे कभी किसी ने नहीं ललकारा कि उड़ी मारो। कैसे डरपोक हो! मेरे साथी जानते थे यह किताब का आदमी है, किताब के बाहर के मामलों में निरा फिसड्डी। किताब का आदमी सो उम्र में उनसे छोटा होते हुए भी वे मेरी इज्जत करते थे, किसी मामले में ललकारकर मेरी खिल्ली नहीं उड़ाते थे। बल्कि सोचते थे यह हमारे साथ आता है यही बड़ी बात है। हाँ, तो एक दिन उड़ी लगाने की ठान ली। नीचे झाँका, डर लगा तथापि यह सोच कि जो होगा देखा जाएगा मैंने छलाँग लगा दी।

सचमुच यह डॉन क्विग्जोटी फीट था। क्या मिल गया इस बुजदिली पर फतह पाकर, बेजरूरत जान खतरे में डालकर? छलाँग ले लेने पर जो चार-पाँच पल अधर में गुजरे उस बीच मेरे हृदय की धड़कन इतनी तेज हो गई थी कि वह एकदम रुक भी सकती थी। उन पलों में मैंने मौत का साक्षात्कार कर लिया था। मेरी आँखों के सामने अँधेरा था, मेरे शरीर में जैसे चेतना नहीं रह गई थी। वे पल मुझे कह गए तुम बावड़ी में नहीं मौत के कुएँ में कूदे हो और नीचे तुम पानी में हाथ-पैर नहीं मार सकोगे। पानी के गहरे में डूबे-सो-डूबे।

ऐसा हुआ नहीं यह बात अलग है। पानी में गहरे जरूर चला गया, पर जाने पर दो-चार पल बाद आप ही हाथ-पैर चलने लगे और आगे के दो-चार पलों बाद मैं पानी की सतह पर था। मैंने उस दिन नई जिन्दगी ही नहीं पाई, नई दिशा भी पाई कि जिन्दगी यों ही दाँव पर लगाने के लिए नहीं है। अपनी जिन्दगी जोखिम में झोंककर मैंने कोई एवरेस्ट तो नहीं पा लिया।

यह भी सोचा, हाँ उस उम्र में सोचा कि एवरेस्ट पा भी लेता तो कौन-सा तीर मार लेता। हर व्यक्ति के अपने-अपने एवरेस्ट होते हैं, हर व्यक्ति की अपनी-अपनी जोखिम होती हैएडवेंचर! मेरे सामने तब यह स्पष्ट नहीं था कि मुझे क्या बनना है तथापि इतना जरूर जानता था कि तेनसिंह शेरपा-जैसा कोई जोखिमवाला या अशोक कुमार जैसा स्क्रीनवाला मुझे नहीं बनना है और यह भी कि चोटी और लोकप्रियता ही जिन्दगी को सार्थक नहीं बनातीं!

दूसरी घटना आगरे की है। महीना याद नहीं आ रहा है, 1946 में कभी आगरा में हिन्दू-मुसलमान दंगा भड़का। दंगा भीषण था या नहीं पता नहीं, पर शाम को कर्फ्यू लग जाता था। कर्फ्यू में ही एक शाम जब मैं महाराष्ट्र समाज के मेस में खाना खाने निकला तो बाहर पड़ते ही किसी मकान से ईंट फेंकी गई। राजामंडी मोहल्ले की घटना है यह। मकान से महाराष्ट्र समाज कोई आधा फर्लांग रास्ते पर था और वहाँ मेन रोड को छोड़ गलियों में से पहुँचा जा सकता था। वैसे भी खाने के लिए हम छात्रों को कर्फ्यू में ढील हासिल थी। मैंने फेंकी गई ईंट की चिन्ता नहीं की। आगे बढ़ गया।

न बढ़ता तो भूखा न रह जाता। ताराबाई के यहाँ खा सकता था जिनका सबटेनेंट मैं था। बढ़ गया सोचकर कि देखा जाएगा जो होगा। पर आगे पन्द्रह-बीस कदम ही चला होऊँगा कि दूसरी ईंट सनसनाती हुई रास्ते पर आई। मैं डरा। पर पहली ईंट के साथ उपजा मेरे अन्दर का डॉन क्विग्जोट भड़का। क्या समझते हैं लोग! ईंटों से डर जाएँगे और अन्दर अपने दड़बे में बन्द रहेंगे! मैं अपने कदम तेज कर और आगे चलने को ही था कि पीछे खिड़की से ताराबाई की आवाज आईरुको। आगे बढ़ना खतरनाक है। वापस लौट आओ।

और मैं लौट आया। उस शाम उस रास्ते पर दो लोग मारे गए। मुझे आज बर्नार्ड शॉ का 'आर्म्स एण्ड दी मैन' नाटक याद आ रहा है जिसका नायक युद्ध के मैदान से नायिका के पास लौट आता है। मैदान में दुश्मन की ओर से गोलियों की धुआँधार वर्षा हो रही थी। नायक नायिका से कहता है, गोलियों की ऐसी बौछार में दुश्मन का मुकाबला कर मर जाना कैसी मूर्खता है! वाह! वह मूर्ख शूर कहलाता है जो गलती से बच जाता है। और शहीद जो मारा जाता है। इस मायने में हमारे कितने ही शूर डॉन क्विग्जोट ही होते हैं।

एक और घटना का उल्लेख करता हूँ। आगरे की ही है। 1945-46 की जब मैं वहाँ एल. एल. बी. भी कर रहा था और नौकरी भी। ऑफिस मेरा कैन्टोंमेंट एरिया में था। ऑफिस छूटने पर मैं आगरा कैंट स्टेशन से राजामंडी के लिए जो गाड़ी मिलती उससे आ जाता था। मेरे साथ और लोग मेरे ही ऑफिस के होते। हम मालगाड़ी के गार्ड के डिब्बे में भी सवार हो जाते, उसके ओपन एरिया में खड़े रहते। एक बार ऐसे ही गार्ड के डिब्बे में सवार हुए और गाड़ी राजामंडी पहुँचते-पहुँचते धीमी गति में तो आई, पर अब रुकी अब रुकी के इन्तजार में जब तेज होने लगी तो मैं डरा। पता नहीं आगे कहाँ रुके। मथुरा तक चली जाए, क्या कहो। चलो कूदो। पर कूदना खतरे से खाली नहीं। हो खतरा, देखा जाएगा जो होगा। यह सोच दूसरे ही क्षण मैंने छलाँग लगा दी। बड़ी बुरी तरह से गिट्टियों पर गिरा। कहो कि टाँगें नहीं टूटीं।

इस तरह की ये जोखिमें जो 'देखा जाएगा' की नादानी लिए रहती हैं, जिन्दगी में भला कोई मकसद रखती हैं?

आज बेशरमी और उपेक्षा से भरा 'देखा जाएगा' हमारा राष्ट्रीय चरित्र बन गया है। परिणामस्वरूप हम अपने कर्तव्य के प्रति तत्पर और ईमानदार नहीं रह गए हैं।

कानून से हमें डर नहीं लगता। तभी तो भ्रष्टाचार, जातिवाद, तस्करी आदि का इतना बोलबाला है। गुनहगार कानून के साए में ही पनप रहे हैं। कानून के रक्षक ही कानून के भक्षक बन गए हैं।

आह्वानों से हम मुँह फेर रहे हैं। अवसर उपभोगने में हम स्वकेन्द्रित होते जा रहे हैं।

अवसर भी साधनहीन के लिए आह्वान है तो साधनयुक्त के लिए बाजार की चीज।

साधनहीन आह्वानों में जी रहे हैं तो साधनयुक्त अवसरों में। साधनहीन तो साधनयुक्तों के भी आह्वान उनकी खातिर पेल रहे हैं।

ऐसी दशा में युधिष्ठिर का 'देखा जाएगा' अधिक घातक है। अंधा धृतराष्ट्र समाज या देश के लिए इतना घातक नहीं होता जितना युधिष्ठिर जब वह अपनी आँखों पर 'देखा जाएगा' की पट्टी बाँध लेता है।

हमारी शिक्षा-संस्थाएँ आँखों पर पट्टी बाँधे हुए हैं, अखबार आँखों पर पट्टी बाँधे हुए हैं, भीड़ाकर्षक आँखों पर पट्टी बाँधे हुए हैं।

पता नहीं कब 'देखा जाएगा' 'देख लूँगा' की हुंकार में गूँजेगा।

चलते-चलते एक बात बता दूँ। आगरा की ईंटवाली घटना में दोनों ईंटों के फेंकी जाने के पहले मेरा बिल्ली ने रास्ता काटा था। हाँ, दोनों बार। इसे महज संयोग कहूँ या आनेवाले संकट का संकेत जिसे अंधविश्वास कहा जाता है।

पत्र-सम्पादक : हाशिए पर

राम बहादुर राय*

करीब 26 साल पहले हिन्दुस्तान समाचार की आम सभा थी। आपको मालूम होगा कि वह भाषायी संवाद समिति एक सहकारी संस्था थी। उसकी आम सभा जब शुरू हुई तो महाप्रबंधक और प्रधान सम्पादक बालेश्वर अग्रवाल ने एक परिचय कराया। मेरे जैसे इक्के-दुक्के वहाँ रहे होंगे जिनको उस परिचय की जरूरत थी। पंजाब केसरी के मालिक और सम्पादक रमेश चन्द्र का परिचय उन्होंने अखबार के साथ कराया। उसका मेरे ऊपर प्रभाव यह पड़ा कि मैं अगले दिन पंजाब केसरी नामक अखबार को देखने और पढ़ने के लिए लालायित हो गया। मुझे अब भी यह याद है कि कहाँ और किस जगह मैंने पंजाब केसरी को अखबारों के बीच से उठाया। उसका ब्यौरा इसलिए नहीं दे रहा हूँ कि वह प्रासंगिक नहीं है। पंजाब केसरी को पहली बार हाथ में लेते ही मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब मैंने उसे गौर से देखा, हिचकते हुए पलटा और साँस रोक कर पढ़ा। आपको बता दूँ कि आश्चर्य क्यों हुआ?

पुरानी दिल्ली स्टेशन से थोड़ी दूर पर शीशगंज गुरुद्वारा है। उसके सामने एक आदमी को सालों से अखबार बेचते हुए मैं देखता था। अपनी पसंद के अखबार और पत्रिकाएँ अक्सर वहीं से ले लेता था। अखबारों की भीड़ में उन्हें तरतीब से सहेजकर रखे जाने के बावजूद मैंने पंजाब केसरी को कभी हाथ नहीं लगाया क्योंकि उसके पहले पृष्ट को देखकर लगता था कि यह सिनेमा का अखबार है। अपनी रुचि सिनेमा में वैसे ही नहीं है जैसे विश्वनाथ प्रताप सिंह की अमिताभ बच्चन में नहीं थी। 1985 तक वे यह नहीं जानते थे कि अमिताभ बच्चन कौन है? खैर, पंजाब केसरी को पलटने के बाद मुझे हल्का-सा अफसोस इस बात पर हुआ कि इससे पहले मैंने इसे ध्यान से क्यों नहीं देखा। इसका कारण अखबार की अपनी खासियत नहीं थी। यह था कि उन दिनों देश के छह बड़े अखबारों में वह शामिल था। आडिट ब्यूरो सर्कुलेशन (ए.बी.सी.) ने नवभारत टाइम्स, हिन्दुस्तान, पंजाब केसरी, राजस्थान पत्रिका, नई दुनिया और आर्यव्रत को ही एक लाख से अधिक छपने वाले अखबारों में शुमार किया था।

---

*वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक

इस बार आश्चर्य के बजाय हैरानी की बात थी। आठवें दशक के आखिरी दिनों में 7 बहादुरशाह जफर मार्ग की इमारत में जब सम्पादकों से यह सुना कि उन्हें इन दिनों बार-बार पंजाब केसरी का हवाला दिया जा रहा है। उस दौर को पत्रकारिता खासकर हिन्दी और भाषायी के नेतृत्व परिवर्तन के नजरिए से देखें तो वह बहुत निर्णायक दिखता है। कई घटनाएँ साथ-साथ घटित हो रही थीं। 7 बहादुरशाह जफर मार्ग की इमारत के उस घराने को नई पीढ़ी सँभालने जा रही थी। उसका पुरानी पीढ़ी से विचार और व्यवहार में छत्तीस का आँकड़ा था। अगर इसे प्रशंसा के भाव से कहना हो तो कहा जा सकता है कि नई पीढ़ी नए आचार और विचार के साथ संस्थान को सँभालने जा रही थी। इस पीढ़ी के लिए पत्रकारिता सामाजिक-राजनीतिक सरोकार नहीं था। इसी घराने की पुरानी पीढ़ी के लिए अखबार व्यवसाय होते हुए भी सम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठाकारक माना जाता था। समझ में यह फर्क इतना चौड़ा था कि पारिवारिक सम्बन्धों की पुलिया भी उसे बहुत दिनों तक जोड़े नहीं रख सकी। केवल विचार की ही बात हो ऐसा नहीं है। एक यथार्थ भी अपना असर दिखा रहा था। नवभारत टाइम्स का हिन्दी अखबारों में पहला स्थान नहीं रह गया था। उस पर पंजाब केसरी का कब्जा हो गया था। यह भी एक कारण रहा होगा जब नवभारत टाइम्स के मालिकान की नई पीढ़ी सम्पादकों को इशारे से ही सही पंजाब केसरी जैसा बनने की सलाह दे रहे थे। जब अखबार की अर्थव्यवस्था विज्ञापन की रकम से जुड़ जाती है और अधिक-से-अधिक विज्ञापन बटोरने की लालसा सबसे ऊपर होती है तो ऐसी सलाह अस्वाभाविक नहीं मानी जा सकती।

इस तरह की सलाह पर सोच-विचार करने की जरूरत इसलिए आ गई है क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध अखबार के उस नेतृत्व से है जिसे सम्पादक कहा जाता है। कुछ ही साल पहले तक अखबार अपनी शोहरत और शर्मिंदगी के लिए जिसके नाम से जाने जाते थे वह सम्पादक होता था। इस मायने में पाठक यह नहीं जानते थे कि मालिक कौन है? वे यही जानते थे कि इस अखबार का सम्पादक कौन है। यहाँ राजनेताओं, कारोबारियों और सरकार में बैठे लागों की बात नहीं हो रही है। इनको हर समय, हर बात मालूम रहती है। इसका उन्हें तरीका भी पता रहता है। बात यहाँ साधारण पाठक की है। वह अखबार को सम्पादक से जानता था। बदलाव का एक रूप यह भी है कि अब पाठक अखबार को उसके मालिक से जानता है। इसमें क्या बुराई है, कोई भी पूछ सकता है। इसका फैसला पूछनेवाले पर छोड़ना बेहतर होगा।

असली मुद्दा यह नहीं है कि पाठक अखबार को किसके चेहरे से जोड़ता है। समझने और समझाने की जरूरत यहाँ है कि नवभारत टाइम्स अखबार को पंजाब केसरी बनाने का तर्क क्या है? इसे थोड़ी आसानी से समझने के लिए यह देखना जरूरी है कि इन दिनों नवभारत टाइम्स की प्रिंट लाइन में क्या छप रहा है। अखबार की बुनियादी बातें इसमें ही होती हैं। रजिस्ट्रार के कानूनी निर्देश का परिपालन करने

के लिए प्रिंट लाइन एक जरिया है। इतना ही मात्र वह होता तो उसका महत्त्व वैसा नहीं माना जाता जैसा कि है। और बातों के अलावा प्रिंट लाइन से दो सूचनाएँ दी जाती हैं। प्रकाशक कौन है और सम्पादक कौन है? इस समय नवभारत टाइम्स के सम्पादकीय पेज पर एक कोने में प्रिंट लाइन होती है। उसे पढ़कर जाना जा सकता है कि अखबार उनसठवें साल में चल रहा है। उसके प्रकाशक पुनीत जैन हैं और वरिष्ठ सम्पादक मधुसूदन आनन्द हैं। सम्पादक मधुसूदन आनन्द वहाँ पत्रकारिता की जल रही लौ के प्रतीक हैं। इसी अखबार की प्रिंट लाइन में कुछ ही साल पहले प्रधान सम्पादक नाम का एक जीव होता था। वह अतीत की वस्तु हो गया है। जो चाहें वे उसे नवभारत टाइम्स के संग्रहालय में खोज सकते हैं। इस मायने में नवभारत टाइम्स उस अजीबोगरीब जन्तु की तरह है जो अपनी खूबसूरत सींग से पहचाना जाता था जो अब लुप्त हो गई है। इस तरह का अचानक जैविक परिवर्तन क्यों हुआ यही मूल जिज्ञासा है।

अमूर्त्त चर्चा छोड़ दें। सीधी-सी बात पर आएँ। अशोक जैन के कार्यकाल में उस अखबार में संस्थान का एक अध्यक्ष होता था जो नीतिगत फैसले लेता था। रोजमर्रा का काम प्रबंध निदेशक देखते थे, जिनका अखबार के सम्पादक से सम्बन्ध परोक्ष ही होता था। जैसे-जैसे प्रबंधन में समीर जैन का दखल बढ़ा उसका अर्थात् प्रबंधन का चरित्र बदलता गया। अब चेयरमैन और मैनेजिंग डायरेक्टर (एम.डी.) का द्वैत मिट गया है। 7 बहादुरशाह जफर मार्ग अद्वैत का केन्द्र है। इस मायने में वह इस देश की मीडिया का नेता बन गया है। वैसे उसे अंग्रेजी अखबारी घरानों की जमात में पहले भी नेतृत्व का श्रेय हासिल है। रोबिन जैफरी ने अपने अध्ययन में पाया कि देश की 21 बड़ी कम्पनियाँ हैं जो अखबार के व्यवसाय में हैं। इन कम्पनियों को अखबारों के फैलाव के आधार पर बड़ा आँका गया है। उनमें सिर्फ चार ही हैं जो मूलतः अंग्रेजी अखबारी घराने हैं। उनमें बैनेट कोलमैन को ही यह श्रेय है कि उसका हिन्दी अखबार हाल-हाल तक सबसे अधिक पढ़ा जाता था।

उस समीर जैन के कुछ किस्से जानने लायक हैं। उस पर आने से पहले उनके तर्क की चर्चा हो जानी चाहिए। अपने सम्पादकों से उनका पहला कथन होता था कि अखबार एक व्यवसाय है। जो बिकता है वही हमें छापना चाहिए। बिकती हैंसनसनीखेज घटनाएँ, सेक्स, चुटकुले और अतिभावुकता। यह सूची लम्बी हो सकती है। यह उदाहरण मात्र है, जिनसे उनके कथन को समझने में मदद मिलेगी। वे जो दूसरी बात नहीं कहते थे पर इशारे से समझा देते थे। वह थीसम्पादक की हैसियत। सम्पादक स्वयं को उस घराने में और ऐसे ही सब जगह जहाँ भी यह संस्था ढंग से काम करती रही है वहाँ यह मानता था कि वह मालिकों के सामने पाठकों का प्रतिनिधि है। इसी मायने में उसे ऊँचा आसन प्राप्त होता था क्योंकि पाठक के बगैर अखबार की कल्पना नहीं की जा सकती। समीर जैन ने इस अवधारणा को उलट-पलट दिया। उनकी समझ है कि अखबार प्रबंधन कौशल से चलता है। अखबार का एक बाजार होता है। उसकी जिसे सही समझ होती है वह उसे बेच पाता है। ये काम जो करते हैं वे अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं। समीर जैन को विशेषज्ञ शब्द पर एतराज हो सकता है। इसलिए जरूरी है कि उनके शब्द ही आप सुनें और पढ़ें। वे ऐसे लोगों को कुशल श्रमिक (स्किल्ड लेबर) से ज्यादा अहमियत देने के लिए तैयार नहीं हैं। जिस तरह से कुशल श्रमिक बाजार में अपना दाम मोल-तोल से तय करता है वही नियम समीर जैन इन पर लागू करना उचित समझते हैं। उनकी निगाह में पत्रकार और सम्पादक कुशल श्रमिक हैं। जो अखबारी घराना अपने बनाए मानकों और वेतन बोर्ड की सिफारिशों को शत-प्रतिशत लागू करने के लिए मशहूर रहा है वह अब ठेका पद्धति से चल रहा है। आप पाएँगे कि व्यावसायिक सफलता के नए फार्मूले इसमें कूट-कूटकर भर दिए गए हैं। इस व्यवस्था में पत्रकारिता की स्वायत्तता और उसके चले आ रहे नियम खाक में मिल गए हैं। पत्रकारिता की परम्परा को पलट दिया गया है। पत्रकार अपने अधिकार के लिए 7 बहादुरशाह जफर मार्ग में ट्रेड यूनियन नहीं चला सकते। पहले की तरह बड़े धूमधाम से यूनियन का चुनाव नहीं लड़ा जा सकता जबकि हर साल वहाँ चुनाव की गहमागहमी देखने लायक होती थी। इस व्यवस्था में मालिक को ठेका पर रखने और जब चाहे निकाल देने का पूरा अधिकार मिल जाता है।

ऐसा वहीं हो सकता है जहाँ मालिक ही सम्पादक हो। नवभारत टाइम्स की प्रिंट लाइन में यह फर्क अभी बचा हुआ है। जिस अखबार के वह नक्शे कदम पर है उसकी प्रिंट लाइन आप पढ़ लें तो कितना फर्क रह गया है यह साफ हो जाएगा। यह है पंजाब केसरी की प्रिंट लाइन‘स्वत्वाधिकारी हिन्द समाचार लिमिटेड के लिए मुद्रक प्रकाशक तथा सम्पादक विजय कुमार’। दिनमान के पत्रकारों को एक घटना याद है। जब चर्चा फैली कि दिनमान बन्द होने जा रहा है तो वे लोग समीर जैन से मिलने गए। समीर जैन ने उनसे कहा कि दिनमान पर जितना घाटा हमें उठाना पड़ रहा है उसका मुझे कोई अफसोस नहीं है। अफसोस इस बात पर है कि वह जितनी जगह 10 दरियागंज में घेरे हुए है उससे 10 लाख रुपये मासिक किराया आएगा। यह नजरिया कुछ लोगों को भले ही एतराज लायक लगे, लेकिन बाजार और व्यावसायिकता के लिहाज से इसका अपना मतलब तो है। लेकिन सवाल यहीं खड़ा होता है कि जिस अखबारी घराने ने नवभारत टाइम्स के लिए न्यूज ब्यूरो बनवाया और वह देश के हिन्दी अखबारों के लिए उस समय आकर्षण और ईर्ष्या का विषय था उसी घराने में बाजार के नियम से पत्रकारिता चलाई जा रही है। उसका असर पूरी पत्रकारिता पर है। ऐसा नहीं है कि उस घराने में सिर्फ नवभारत टाइम्स ही समीर जैन के हिसाब से चलाया जा रहा है। इसमें उन्होंने कोई भेदभाव नहीं रखा है। टाइम्स ऑफ इण्डिया और इकोनोमिक टाइम्स में भी सम्पादक की कोई जरूरत वे नहीं मानते। वहाँ जब एच. के. दुआ बड़े आदर से बुलाए गए तो उनसे अपेक्षा यह थी कि वे प्रधानमंत्री से

अशोक जैन के फेरा के मामले खत्म करा देंगे। एच. के. दुआ कहते हैं कि उन्होंने इससे इनकार कर दिया। वे सही ही कहते होंगे। इसका नतीजा यह हुआ कि रातों-रात उन्हें बाहर का दरवाजा दिखा दिया गया। वह मामला प्रेस काउंसिल तक पहुँचा। एडीटर्स गिल्ड भी बीच में आया। विवाद चला और अंततः इस विवाद में प्रेस काउंसिल की दुर्दशा हुई। पहली बार यह महसूस किया गया कि प्रेस काउंसिल बेमतलब हो गई है। न उसके पास नाखून हैं न दाँत हैं। ऐसी संस्था से कोई क्यों डरे। जवाहरलाल नेहरू ने प्रेस कांउसिल बनवाया था कि अखबारों पर एक अंकुश होगा। आज बात अखबारों तक सीमित नहीं है। अब मीडिया का फैलाव है जिसमें अखबार और टी.वी. दोनों हैं। इसके लिए जैसी मीडिया काउंसिल चाहिए उसकी अभी कोई सुध नहीं ले रहा है।

जहाँ तक सम्पादक संस्था का सवाल है उसने जितनी ऊँचाइयाँ छू ली थीं अब वह रोज-ब-रोज रसातल की तरफ जा रही हैं। अचानक निधन से कुछ दिन पहले मैंने राजेन्द्र माथुर से पूछा था। आप जानते हैं कि वे 1991 तक नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक थे। उनसे जो मैंने पूछा वह अचानक उपजा हुआ सवाल नहीं था। समय लेकर उनके घर गया था। लम्बी बातचीत को बताने का यह अवसर नहीं है। लेकिन मेरा सवाल और उनका जवाब बताया जा सकता है। सवाल था कि आप नवभारत टाइम्स को मुकम्मल अखबार बनाने की सोचते थे। पर लगता यह है कि आपने वक्त से समझौता कर लिया है। उनका जवाब था कि मैं अशोक जैन से संवाद कर सकता हूँ क्योंकि वे नवभारत टाइम्स पढ़ते हैं। मैं समीर जैन से संवाद कायम ही नहीं कर सकता जो हिन्दी अखबार देखते भी नहीं। यह कहते हुए उनके चेहरे पर पत्रकारिता की उदासी को फैलते हुए मैंने महसूस किया। जिस दौर में 7 बहादुरशाह जफर मार्ग में पत्रकारिता के लिए नए मानक बनाए जा रहे थे उसी दौर में एक और घटना घट रही थी। इन दोनों ने मिलकर अपना कमाल दिखाया। पत्रकारिता बदली और उसके साथ-साथ उसका नेतृत्व अर्थात् सम्पादक की संस्था का कायापलट हो गया। यह बेहतर हुआ या बदतर इस पर बहस चलती रहेगी।

जिस दूसरी घटना का मैं जिक्र कर रहा हूँ, वह एक्सप्रैस बिल्डिंग की है। रामनाथ गोयनका बोफोर्स तोप सौदे के भ्रष्टाचार पर विश्वनाथ प्रताप सिंह के लिए अभियान चलाने में जुट गए। उनका पूरा अखबार उस लड़ाई में कूद पड़ा। मालिक एक मिशनरी और जेहादी मुद्रा में तलवार लेकर निकला। उसके पीछे-पीछे अखबार की वह फौज थी जिसमें सम्पादक और पत्रकार होते हैं। उस लड़ाई में इण्डियन एक्सप्रैस और जनसत्ता ने अगुवाई की। बोफोर्स तोप सौदे के घोटाले का मामला ऐसा था जिसने पूरे देश की मीडिया को अपनी ओर खींचा। पहली बार एक लड़ाई जो सही मायने में भ्रष्टाचार के खिलाफ कम बल्कि सत्ता की राजनीति में भ्रष्टाचार के मुद्दे के इस्तेमाल के लिए थी, उसे विजय मिली। आजादी के बाद जितने भी बड़े राजनीतिक परिवर्तन हुए उसमें मीडिया की जीत की यह पहली घटना थी। उससे पहले चाहे इमरजेंसी के बाद जनता पार्टी की जीत रही हो या 1980 में इन्दिरा की वापसी रही हो, हर मौके पर मीडिया की भूमिका उस तरफ झुकी हुई थी जहाँ सत्ता थी। अर्थात् जनभावनाओं से उसका तार जुड़ा ही नहीं था। अखबारी घरानों को सरकारें नियंत्रित करती थीं। इसलिए वे उनकी ही गाते और बजाते थे जो सरकार में होते थे। विश्वनाथ प्रताप सिंह के अभियान में धारा पलट गई। पहली बार केन्द्र में ऐसी सरकार आई जिसे सत्तासीन करने में और लोगों का जो भी रोल रहा हो, लेकिन मीडिया ने माना कि यह उसके पराक्रम का परिणाम है। इससे भी सम्पादक की संस्था का महत्त्व कम हुआ। इसके बाद राजनीतिकों ने सीधे सम्पादकों के बजाए मालिकों से नाता जोड़ा। पहले अकेले रामनाथ गोयनका थे जिनका राजनीतिक नेताओं से सीधा नाता हुआ करता था। उनकी नीतियों से सम्पादक आते और जाते थे। वे अपवाद थे और 1989 के लोकसभा चुनाव ने इसे नियम बना दिया। सम्पादक जरिया नहीं रहा। वह मालिक का ऐसा कारिंदा हो गया जिसे अखबारी घराने के कारोबार का हित देखना है, पाठकों और पत्रकारिता की परम्परा का नहीं। भारत में पत्रकारिता 200 साल पुरानी है। यही उम्र सम्पादक की संस्था की भी है। इस लम्बी यात्रा में होना तो यह चाहिए था कि सम्पादक के नाक नक्श और चरित्र साफ-साफ उभरे और दुनिया जाने कि वह क्या है। बजाए इसके हो रहा है यह कि सम्पादक हाशिए पर जा रहा है। उसका कामकाज बदल रहा है। निष्पक्ष पत्रकारिता और लोकतंत्र के तकाजे की बात जितनी कम की जाए उतना ही बेहतर होगा। जिस सम्पादक संस्था को पत्रकार आदर देते रहे हैं वह बहुत सालों में बनी थी। उसके तीन बुनियादी तत्त्व माने जाते हैं। एक कि उसमें सम्पादकीय नेतृत्व की क्षमता होनी चाहिए। दूसरा कि प्रशासनिक कुशलता और योग्यता से उसे भरापूरा होना चाहिए। तीन कि वह अपने सहयोगियों के प्रति वचनबद्ध हो। उसके सहयोगी ही उसकी फौज माने जाते हैं। क्या इन तीन कसौटियों पर आज किसी सम्पादक को हम खरा पा सकेंगे।

भारतीय उच्च शिक्षा का बदलता स्वरूप

डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव*

सारी दुनिया इस समय भारत की आर्थिक सफलताओं तथा आधुनिकीकरण की ओर तेजी से बढ़ते प्रयासों से आश्चर्यचकित है। सूचना प्रौद्योगिकी तथा जैव प्रौद्योगिकी जैसी उच्च तकनीक पर आधारित उद्योगों ने भारत के समृद्धि के द्वार खोल दिए हैं। विश्व व्यापार संगठन के तमाम दबावों के बावजूद भी भारत का घरेलू औषधि उद्योग आज दुनिया की प्रसिद्ध दवा निर्माता बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को चुनौती देने में सक्षम है। परन्तु विकास और आधुनिकीकरण के इस महत्त्वपूर्ण दौर में, दुर्भाग्य से, भारत की उच्च शिक्षा पद्धति सबसे कमजोर कड़ी साबित हो रही है।

यद्यपि भारत सरकार उच्च शिक्षा के क्षेत्र में काफी धनराशि खर्च कर रही है परन्तु अभी भी उच्च तकनीक के विकास के इस दौर में विश्व स्तर का प्रशिक्षण, शोध तथा प्रबन्धन मुहय्या कराने में हमारी उच्च शिक्षा पद्धति कारगर साबित नहीं हो रही है। एशिया महाद्वीप में इस समय चीन, सिंगापुर, ताइवान तथा दक्षिण कोरिया जैसे देश भारत के मुख्य प्रतियोगी के रूप में उभर रहे हैं। भारत और इन देशों की उच्च शिक्षा पद्धति की तुलना करने पर एक अलग ही किस्म का परिदृश्य हमारे सामने आता है। इन देशों में प्राथमिक स्तर से ही शिक्षा को बहुसंख्यक छात्रों तक पहुँचाने की व्यवस्था है। साथ-ही उच्च शिक्षा की एक ऐसी पद्धति भी विकसित की गई है जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालयों तक में उच्च स्तर की शोध गतिविधियों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। शिक्षा तथा शोध के लिए दुनिया की कुछ गिनी चुनी उत्कृष्ट संस्थाएँ इन देशों में आज मौजूद हैं। अभी हाल में ही ‘लन्दन टाइम्स’ ने एक सर्वेक्षण के आधार पर दुनिया के सबसे अच्छे दो सौ विश्वविद्यालयों की सूची अपने ‘उच्च शिक्षा परिशिष्ट’ में प्रकाशित की है। इस सूची में जहाँ एक ओर चीन, हांगकांग तथा दक्षिण कोरिया के तीन-तीन विश्वविद्यालय तथा ताइवान का एक विश्वविद्यालय शामिल किया गया है वहीं भारत से मात्र भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान को ही स्थान मिला है। ज्ञान आधारित आर्थिक विकास के इस युग में ये देश आज भारत से आगे निकल गए हैं और इस क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करने की अपनी क्षमता को भी बराबर प्रदर्शित कर रहे हैं। भारत के तकनीकी तथा मेडिकल शिक्षा में रुचि रखने वाले बहुसंख्यक विद्यार्थी आज चीन में उच्च शिक्षा प्राप्त करने में अधिक रुचि दिखा रहे हैं। गौरतलब है कि चीनी विश्वविद्यालयों में आज करीब 11 लाख विदेशी छात्र पढ़ रहे हैं।

अभी हाल की अपनी भारत यात्रा के दौरान जहाँ एक ओर चीनी प्रधानमन्त्री वेन जियाबाओ भारत-चीन मैत्री को ऊँचाई पर पहुँचाने में लगे रहे, वहीं चीनी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि भारतीय छात्रों को आकर्षित करने के जुगाड़ बैठाते रहे। चीनी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि 13वें भारत अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा मेला (आई.आई.ई.एफ.) में हिस्सा लेने आए थे।

इस शिक्षा मेले का आयोजन चायना स्कॉलरशिप काउंसिल के सौजन्य से किया गया था। उल्लेखनीय है कि यह काउंसिल चीनी शिक्षा मन्त्रालय का एक गैर-लाभकारी निकाय है। इस शिक्षा मेले का उद्देश्य चीनी विश्वविद्यालयों के बारे में भारतीय छात्रों को जागरूक बनाना था। भारतीयों को चीनी विश्वविद्यालयों की विशेषताओं, परिसर वातावरण, पाठ्यक्रम, छात्रवृत्ति सुविधाओं आदि के बारे में जानकारियाँ दी गईं। काउंसिल के उप महासचिव वू लियानशेंग के अनुसार वे भारतीय छात्रों को चीनी विश्वविद्यालयों की खूबियों से अवगत कराना चाहते थे। चीन की सरकार और विश्वविद्यालयों की ओर से विदेशी छात्रों को कई तरह की आकर्षण छात्रवृत्तियाँ दी जाती रही हैं। शंघाई इण्टरनेशनल स्टडीज यूनिवर्सिटी में अन्तर्राष्ट्रीय छात्र कल्याण कार्यालय के निदेशक कुएनशेंग चेन के अनुसार चीन में भारतीय छात्रों की छवि काफी अच्छी है। उन्हें मेधावी माना जाता है।

गौरतलब है कि भारत में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों में से केवल 10 प्रतिशत, चीन में 15 प्रतिशत तथा विकसित देशों में 50 प्रतिशत तक उच्च शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं। मजे की बात यह भी है कि भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, भारतीय प्रबन्धन संस्थान, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान तथा टाटा मूलभूत शोध संस्थान जैसी विश्व स्तर की संस्थानों में मात्र 1 प्रतिशत विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा के लिए पहुँच पाते हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अभी हाल में ही पाँच विश्वविद्यालयों को उत्कृष्ट शिक्षा तथा शोध के लिए चुना है तथा इन विश्वविद्यालयों को सुविधा तथा संसाधनों को विकसित करने के लिए भारी अनुदान भी दिया है। सम्भवतः यह आधुनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिखा तन्त्र में ले आए जाने वाले बदलावों की शुरुआत है।

भारत में उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। इनमें से बहुतों को न तो परिसर उपलब्ध है और न ही सुविधाओं के विकास के लिए जरूरी धनराशि। ऐसे में यहाँ शैक्षणिक वातावरण

---

*पूर्व अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (भारत सरकार), 11 वनस्थली, कैनाल रोड, बल्लुपुर, देहरादून248001.   e-mail : raksrivastava@rediffmail.com

उपलब्ध होने की सम्भावना बहुत क्षीण हो जाती है। राजनीतिक पार्टियाँ इन शैक्षणिक संस्थाओं तथा विद्यार्थियों के बीच अपना आधार मजबूत करने में लगी रहती हैं जिसके कारण शैक्षणिक नियुक्तियाँ तथा प्रशासनिक निर्णय भी प्रभावित होते हैं। पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं इत्यादि के विकास के लिए बहुत कम धन उपलब्ध होता है। ऐसे में उच्च गुणवत्ता की शिक्षा तथा शोध की कितनी अपेक्षा की जा सकती है?

पूर्णकालिक शिक्षकों की नियुक्ति पर कई जगह लगे प्रतिबन्ध तथा अल्पकालिक शिक्षकों की बढ़ती हुई संख्या ने शिक्षा के व्यवसाय को नैतिक रूप से प्रभावित किया है। अपने उत्तरदायित्व के निर्वहन में शिक्षकों के द्वारा की जाने वाली लापरवाही भी शिक्षा तथा शोध के स्तर के गिरावट का एक प्रमुख कारण है। आज की शिक्षा पद्धति में किसी किस्म के प्रोत्साहन के न मिलने के कारण भी लोगों की रुचि कम होती जा रही है। नौकरशाही अपना दबदबा बनाने पर हमेशा ही उतारू रहती है जिसके कारण पूरी व्यवस्था प्रभावित होती है। विद्यार्थियों द्वारा चलाए जाने वाले बन्द तथा आन्दोलन तथा शिक्षकों द्वारा भी ऐसी गतिविधियों में शामिल होना पूरी व्यवस्था के लिए नासूर बन गया है। शिक्षा का वातावरण मुहय्या कराना, समय से परीक्षाएँ समाप्त करना, विद्यार्थियों को डिग्रियाँ प्रदान करना सामान्य स्थिति में ही हो सकता है।

गौर करने वाली बात यह भी है कि आज आई.आई.टी. या मेडिकल संस्थाओं से डिग्रियाँ प्राप्त स्नातक या अन्य तकनीकी विषयों में अच्छे ढंग से प्रशिक्षित विद्यार्थी भारत के प्रौद्योगिक क्षेत्र में अपनी योग्यताओं को साबित करने के बजाय भारतीय प्रशासनिक सेवा या प्रबन्धन सेवाओं की ओर अधिक आकर्षित हो रहे हैं। साथ-ही आधे से अधिक तो उच्च शिक्षा के लिए विदेशों में चले जाते हैं। कुछ वहीं नौकरी की तलाश करते हैं या फिर अपना ही कोई व्यवसाय प्रारम्भ कर देते हैं। अधिकांश भारत वापस आना नहीं चाहते। गौरतलब है कि अमेरिका या अन्य देशों में भारत के जो विद्यार्थी विज्ञान या टेक्नॉलॉजी के क्षेत्र में डिग्रियाँ प्राप्त करते हैं उनमें से 86 प्रतिशत अपनी पढ़ाई पूरी कर तुरन्त भारत लौटना पसन्द नहीं करते। इनमें से लगभग तीस प्रतिशत छात्र एम.बी.ए. की डिग्री प्राप्त करने की चेष्टा में लग जाते हैं क्योंकि उन्हें इन सेवाओं के लिए भारत में अधिक वेतन मिलने की उम्मीद होती है। इस प्रकार विज्ञान तथा टेक्नॉलॉजी में अर्जित किया हुआ उनका ज्ञान भारत के प्रौद्योगिक विकास में किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं रह जाता। यही स्थिति आई.आई.टी. या आई.आई.एम. में अध्यापन करने वाले शिक्षकों की भी है जोकि विदशों में या प्राइवेट सेक्टर में अधिक वेतन के कारण आकर्षित होकर चले जाते हैं। ये दोनों ही स्थितियाँ भारत के शिक्षा तन्त्र के उज्ज्वल भविष्य को धूमिल करने का कारक साबित हो रही हैं।

अमेरिकी विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले कुल विदेशी छात्रों की संख्या में भले ही गिरावट आ रही हो लेकिन इन विश्वविद्यालयों में भारत से जाकर पढ़ने वाले छात्रों की संख्या में इजाफा हुआ है और इस प्रकार भारत अमेरिका के लिए बौद्धिक राजधानी के रूप में विकसित हो रहा है। अमेरिकी मीडिया में आई रिपोर्टों के अनुसार भारत के लिए अच्छी खबर यह है कि यहाँ से जानेवाले छात्रों की संख्या उसके पड़ोसी चीन से आकर पढ़ने वाले छात्रों की संख्या से आगे निकल रही है और भारतीय छात्र अब अमेरिकी विश्वविद्यालयों से नामांकित होने वाले विदेशी छात्रों के समूह में सबसे आगे निकल गए हैं। यह संख्या अब भी बढ़ रही है।

सन् 2003-2004 में अमेरिका आने वाले विदेशी छात्रों में भारतीयों की संख्या 79,736 थी जबकि चीनी छात्रों की संख्या इससे कहीं कम 61,765 रही। मौजूदा शैक्षणिक सत्र में स्टैन्फोर्ड विश्वविद्यालय में भारतीयों की संख्या बढ़कर 461 हो गई है जो दो साल पहले के मुकाबले 23 फीसदी ज्यादा है। इसके उलट चीनी छात्रों की संख्या 553 से घटकर 543 रह गई है। सैन जोस स्टेट यूनिवर्सिटी में भारतीयों की संख्या में पिछले दो साल में 21 फीसदी का इजाफा हुआ है जबकि चीनी छात्रों की संख्या में 35 फीसदी की गिरावट आई है। विदेशी छात्रों को नौकरियाँ उपलब्ध कराने वाली और तकनीक के क्षेत्र में अमेरिका को दुनिया के अन्य देशों से आगे रखने वाली सिलिकान वैली ने इस बात पर चिन्ता जाहिर की है कि विदेशी छात्रों की घटती संख्या से अमेरिका बौद्धिक मानव श्रम का महत्त्वपूर्ण स्रोत खो सकता है।

बर्कले स्थित कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के अध्ययन से अमेरिका में विदेशी छात्रों के महत्त्व को समझा जा सकता है। अध्ययन में पाया गया है कि 1998 में सैन फ्रांसिस्को में उच्च तकनीक वाली कम्पनियों में 25 प्रतिशत कम्प्यूटर वैज्ञानिक और इंजीनियर चीन तथा भारत के थे और इन लोगों ने लगभग 58 हजार नौकरियों पर कब्जा किया हुआ था। 11 सितम्बर को हुए आतंकवादी हमले के बाद वीजा के आवेदन के लिए कड़े नियमों के चलते और कुछ अन्य कारणों से विदेशी छात्रों की संख्या में गिरावट आई है। सुरक्षा जाँच तथा वीजा आवेदन में दिक्कतों के चलते विज्ञान और प्रौद्योगिकी क्षेत्र के चीनी छात्रों की अमेरिकी आमद कम हुई है लेकिन भारतीय छात्रों के मामले में यह बात लागू नहीं होती और इसी अवधि में इन दिक्कतों के बावजूद, भारतीय छात्रों की संख्या में 46 फीसदी की बढ़ोतरी हुई है।

ज्ञान आधारित विकास के इस दौर में यद्यपि भारत के सामने कई चुनौतियाँ हैं परन्तु कुछ हद तक वह लाभ की स्थिति में भी है। भारतीय उच्च शिक्षा तन्त्र इस समय दुनिया में तीसरे नम्बर पर आता है। चीन तथा अमेरिका के बाद उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की सबसे बड़ी संख्या भारत में ही है। भारत में अभी भी उच्च शिक्षा तथा शोध का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही बनी हुई है। यहाँ ज्ञान को आदर प्राप्त है तथा शिक्षा की बहुत पुरानी तथा लम्बी परम्परा भी रही है। आज भी भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं में कुछ ऐसे विभाग तथा केन्द्र विद्यमान हैं जिन्हें शिक्षा तथा शोध के क्षेत्र में गम्भीरतापूर्वक लिया जाता है। यद्यपि

ऐसे विभागों तथा केन्द्रों की संख्या बहुत छोटी है परन्तु गुणवत्ता के स्तर पर ये अपनी उपयोगिता सिद्ध करने में सक्षम हैं। वर्तमान समय की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए इन विभागों तथा केन्द्रों में जरूरी बदलाव किए जा सकते हैं। वैसे तो भारत में उच्च शिक्षा की सारी जिम्मेदारी केन्द्र सरकार के ऊपर है परन्तु जिस प्रकार विभिन्न राज्य उच्च तकनीकी शिक्षा में रुचि ले रहे हैं उससे यह आशा बँधती है कि भारत के उच्च शिक्षा तन्त्र में जरूरी बदलाव के लिए, नई सम्भावनाओं और नीतियों के लिए द्वार खुले हुए हैं।

भारत में बहुत कम ही लोग ऐसे हैं जो उच्च शिक्षा तन्त्र की बेहतरी के लिए निरपेक्ष भाव से रचनात्मक सोच रखते हैं। भारत में अभी भी उच्च कोटि के शोध के प्रति लोगों में उदासीनता है। सरकारी या शिक्षा संस्थाओं के स्तर पर अभी भी वही पुराना तथा घिसा-पिटा ढर्रा मौजूद है। चीन जैसे देश में आज दो दर्जन से भी अधिक उच्च शिक्षा शोध केन्द्र तथा तमाम सरकारी एजेन्सियाँ उच्च शिक्षा की नीतियों को निर्धारित करने में लगी हुई हैं। यद्यपि भारत में शिक्षा संस्थाएँ तथा उनसे सम्बन्धित पद्धति विशाल और जटिल होती जा रही है परन्तु अभी भी नीति निर्धारण हेतु सही ढंग से न तो आँकड़े उपलब्ध हैं, न ही उनका गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण किया जाता है और न ही रचनात्मक तथा नए विचारों को उचित स्थान ही मिल पाता है।

विगत कई दशकों से भारत में उच्च शिक्षा का तन्त्र उपेक्षित रहा है और अपने साधारण स्तर के क्रियाकलापों के बलबूते पर अभी भी जीवित है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में अपने आर्थिक ढाँचे को और अधिक मजबूत करने तथा तकनीकी विकास के रास्ते पर आगे बढ़ने के लिए भारत को उच्च प्रशिक्षित लोगों की जरूरत है। ऐसे में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता को बनाए रखना तथा उसे और समृद्ध करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आज भारत में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की संख्या तथा प्रशिक्षित लोगों का जो संसाधन उपलब्ध है उसके ही बूते पर देश इस प्रतियोगिता की दौड़ में आगे बढ़ने को तैयार है। आज चीन अपने विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण तथा शोध की गतिविधियों को बढ़ाने के लिए भारी धनराशि इस आशा से लगा रहा है कि आने वाले समय में वह विश्वस्तर की प्रतिभाओं को उत्पन्न करने में सफल हो सकेगा और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की बहुसंख्यक शोध संस्थाओं की स्थापना भी कर सकेगा। एशिया के अन्य देश भी इस दिशा में प्रयासरत हैं। ताइवान भी जो कि आज सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हार्डवेयर के डिजाइन और उत्पादन का एक प्रमुख केन्द्र बन गया है, अपने कई उत्कृष्ट तकनीकी विश्वविद्यालयों को एक साथ मिलाकर 'एशियन एम.आई.टी.' की स्थापना करने का विचार कर रहा है।

एक समय वह भी था जब कई देशों ने अपने द्वारा विकसित साधारण तकनीकों तथा सस्ते श्रम की बदौलत भी आर्थिक सफलताएँ प्राप्त की थीं। परन्तु आज समय बदल गया है। यद्यपि सस्ता श्रम अभी भी आर्थिक विकास में सहायक है परन्तु वृहद् पैमाने का समकालीन आर्थिक विकास उच्च तकनीक तथा ज्ञान आधारित तंत्र की माँग करता है। यद्यपि भारत ने अपने आर्थिक विकास तथा आधुनिकीकरण के लिए उच्च तकनीक पर आधारित प्रौद्योगिकी का चुनाव तो किया है परन्तु इसे दीर्घकालिक बनाने के लिए मौजूदा उच्च शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा वरना आर्थिक विकास की इस लम्बी यात्रा में यह एक बहुत बड़ा अवरोध सिद्ध होगा।

21वीं सदी में ज्ञान आधारित आर्थिक विकास के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए भारत को अपने उच्च शिक्षा तंत्र का, आज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, पुनर्निर्माण करना होगा। इस काम में कुछ प्राइवेट सेक्टर की एजेन्सियाँ भी लगी हुई हैं। परन्तु विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में शिक्षा और शोध के लिए जिन आधुनिक संसाधनों की आवश्यकता है प्राइवेट सेक्टर इसे पूरा करने में सक्षम नहीं है। वैसे भी प्राइवेट सेक्टर अपने हितों तथा व्यवसाय को ध्यान में रखकर ही सामान्यतः कोई निर्णय लेता है। ऐसे में देश के समग्र विकास की सोच शायद ही प्राइवेट सेक्टर के पास हो जोकि भारत की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सहायक बने। इस कार्य में सरकारी क्षेत्र की पहल ही कारगर सिद्ध होगी जो विश्व स्तर की संस्थाओं को बनाने में अपने संसाधनों का पूरा उपयोग कर सकेगी। राष्ट्रीय महत्त्व के कार्यक्रमों को चलानेवाली उत्कृष्ट शिक्षा संस्थाओं की पहचान भारत सरकार को ही करनी पड़ेगी तथा आगे आकर इन्हें जरूरी धनराशि भी मुहय्या करानी होगी। यह काम कुछ वर्षों के लिए ही नहीं बल्कि दीर्घकालिक होगा। शिक्षकों तथा शोधार्थियों के वेतन को आकर्षक बनाना होगा जिससे वैज्ञानिक तथा छात्र आकर्षित हो सकें। प्रतिभाशाली छात्रों को शोध हेतु छात्रवृत्ति तथा अन्य अनुदान की उचित व्यवस्था करानी होगी। एक ऐसी शैक्षणिक संस्कृति का विकास करना होगा जिसमें प्रशासनिक बाधाएँ उत्पन्न न हो सकें और शोध के लिए एक स्वतन्त्र तथा खुला माहौल मिल सके। शोध परियोजनाओं की समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा समीक्षा भी करानी होगी, जिससे लोगों में अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता बनी रहे। विश्व स्तर के ऐसे विश्वविद्यालयों में विश्वस्तर के अध्यापक, छात्र तथा संस्कृति का होना भी जरूरी है जोकि भविष्य में लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत भी बन सकेंगे। विशेष परिस्थितियों तथा संसाधनों के आपसी तालमेल से विश्वस्तर के उत्कृष्ट शिक्षा केन्द्र भारत में स्थापित किए जाने की आज बेहद जरूरत है। यह काम रातोंरात नहीं हो सकता है। परन्तु भारत के पास ऐसे संसाधन तथा बौद्धिक सम्पदा उपलब्ध है जो अपने गम्भीर प्रयास द्वारा देश के भविष्य के शिक्षा केन्द्रों की स्थापना कर सकती है। यदि वर्तमान में मौजूद विश्वविद्यालयों में से एक दर्जन को भी विश्वस्तर का बनाया जा सके तब हम नए दौर की इस दुनिया में अपनी आर्थिक तथा तकनीकी समृद्धि का परचम लहराने में जरूर कामयाब होंगे।

अभी 26 अप्रैल 2005 को आपसी धरोहरों का जश्न मनाते हुए कोलकाता, मुम्बई तथा चेन्नई विश्वविद्यालयों ने भारत के राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम की मौजूदगी में एक सन्धि पर हस्ताक्षर किया है। ये तीनों विश्वविद्यालय भविष्य में अपने शैक्षणिक तथा अन्य संसाधनों का मिलजुल कर उपयोग करेंगे। विगत 150 वर्षों से ये तीनों ही विश्वविद्यालय भारतीय शैक्षणिक जगत के स्तम्भ रहे हैं। भारत में यह पहली बार हुआ है जब शैक्षणिक उत्कर्ष के प्रतीक ये तीन विश्वविद्यालय आपस में हाथ मिलाकर चलने को तैयार हुए हैं। यह यात्रा भारत में उच्च शिक्षा के मानकों को और ऊँचाई तक ले जानेवाली सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास करना चाहिए।

इस सन्धि के अन्तर्गत इन तीनों विश्वविद्यालयों ने अपने संसाधनों का एक-दूसरे के विद्यार्थियों के शोध कार्यक्रमों, पुस्तकालयों तथा दूरस्थ शिक्षा में उपयोग करने की सहमति व्यक्त की है। इन तीनों विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को ऑन लाइन नेटवर्क से जोड़ा जाएगा तथा 'हाई स्पीड डाटा लिंक' सुविधाओं को विकसित किया जाएगा। ये तीनों विश्वविद्यालय बंगाली, तमिल तथा मराठी भाषा के पीठ की स्थापना भी करेंगे जो न केवल शैक्षणिक वरन् सांस्कृतिक सम्बन्धों को जोड़ने में भी सहायक होगा।

गौरतलब है कि इन तीनों विश्वविद्यालयों की स्थापना 1857 में की गई थी। अब जब कि इन तीनों विश्वविद्यालयों की स्थापना के 150 वर्ष पूरे हो रहे हैं तब इसे एक राष्ट्रीय उत्सव के रूप में मनाने की तैयारी की जा रही है। साथ मिलकर काम करने की स्थिति में इन तीनों विश्वविद्यालयों को भारत के उच्च शिक्षातंत्र में गुणात्मक परिवर्तन की आशा है। इन तीनों विश्वविद्यालयों के कुलपति इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए राष्ट्रपति भवन में इकट्ठे हुए थे। कोलकाता विश्वविद्यालय के कुलपति आशीष कुमार बनर्जी, चेन्नई विश्वविद्यालय के कुलपति एस. पी. थ्यागराजन तथा मुम्बई विश्वविद्यालय के कुलपति विजय खोले इस अवसर पर मौजूद थे। इस सन्धि में इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि नेनो साइंस तथा नेनो टैक्नोलॉजी की जो राष्ट्रीय शोध परियोजना चल रही है उसमें ये तीनों ही विश्वविद्यालय अपने पूरे संसाधनों के साथ शामिल होंगे। शिक्षकों के आदान-प्रदान के साथ-साथ दूरस्थ शिक्षा केन्द्रों की स्थापना में भी ये विश्वविद्यालय एक-दूसरे का सहयोग करेंगे। 150वीं वर्षगाँठ के उत्सव के समय ये तीनों विश्वविद्यालय 50-50 स्नातकोत्तर अध्ययन तथा शोध परियोजनाओं के लिए छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान करेंगे। इसी प्रकार अन्तर्विश्वविद्यालयी खेल-कूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों को बढ़ावा देने की भी योजनाएँ बनाई गई हैं। इस काम में 'एसोसिएशन ऑफ इंडियन यूनिवर्सिटीज' भी इनकी सहायता करेगा।

इधर 28 अप्रैल 2005 को यह खबर भी सुर्खियों में रही कि वर्तमान केन्द्र सरकार एक राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (नेशनल नॉलेज कमीशन) का गठन करने जा रही है। इस आयोग का चेयरमैन सैम पितरोदा को बनाया गया है। ये वही सैम पितरोदा हैं जिन्होंने प्रधानमंत्री राजीव गांधी के समय में टेक्नोलॉजी मिशन का नेतृत्व किया था। माना जा रहा है कि यह आयोग सैम पितरोदा के दिमाग की उपज है। इस आयोग में विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों को शामिल किया जाएगा जोकि ज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्धित नीतियों तथा प्रबंधन विधियों के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को अपनी सलाह देंगे। इस आयोग का मुख्य लक्ष्य भारत के शिक्षातंत्र में आमूल परिवर्तन ले आना होगा जिससे कि ज्ञान के नए संसाधनों को विकसित किया जा सके। प्रसिद्ध अणु जीवविज्ञानी डॉ. टी. एम. भार्गव को इस आयोग का उपाध्यक्ष बनाया गया है। अन्य सदस्यों का चुनाव सैम खुद ही करेंगे। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग के माध्यम से भारत को दुनिया में एक ज्ञान शक्ति के रूप में विकसित किया जाएगा। यह आयोग इस वर्ष दो अक्टूबर तक अपनी योजनाओं को विकसित कर लेगा जिन्हें आनेवाले 36 महीनों में अर्थात् 2 अक्टूबर 2008 तक लागू कर दिया जाएगा। इस आयोग की योजनाओं से जो नतीजे निकलेंगे उनकी एक रिपोर्ट बनाकर बाद में सरकार को सौंपी जाएगी।

केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने इस आयोग के गठन की मंजूरी देते समय इसके कार्य क्षेत्र को भी परिभाषित किया है, जिसमें 21वीं सदी में ज्ञान के क्षेत्र में मौजूद चुनौतियों का सामना करने के लिए भारतीय शिक्षातंत्र के पुनर्निर्माण तथा विकास की बात कही गई है। साथ-ही इसका कार्य विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में शोध गतिविधियों को बढ़ावा देना, बौद्धिक सम्पदा अधिकारों के क्षेत्र में कार्य कर रही प्रबंधन संस्थाओं के वर्तमान ढाँचे में सुधार, कृषि तथा उद्योग के क्षेत्र में आधुनिक ज्ञान के प्रयोग को बढ़ावा देना तथा ज्ञान की विभिन्न विधाओं का प्रयोग करते हुए सरकारी मशीनरी को और अधिक चुस्त-दुरुस्त तथा पारदर्शी बनाकर उत्तरदायित्वपूर्ण सामाजिक विकास की ओर ले जाना है। इस आयोग में मानव संसाधन विकास मंत्रालय, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी मंत्रालय, वाणिज्य तथा उद्योग मंत्रालय, कृषि मंत्रालय तथा सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय के कार्यकारी दल भी सम्मिलित किए जाएँगे। इस आयोग को तकनीकी सहायता आई. आई. टी. तथा आई. आई. एम. जैसी प्रसिद्ध शैक्षणिक संस्थाओं से चयनित किए गए 10 प्रतिभाशाली युवकों द्वारा प्रदान की जाएगी। नेशनल नॉलेज कमीशन के प्रशासनिक कार्य तथा अपनी योजनाओं के कार्यान्वयन इत्यादि के लिए बजट का प्रबंध योजना आयोग द्वारा किया जाएगा। आशा की जानी चाहिए कि वर्तमान केन्द्र सरकार भारतीय शिक्षातंत्र के पुनर्निर्माण हेतु इस आयोग द्वारा सुझाई गई योजनाओं पर ठोस कार्यवाही करेगा जिससे भारत की ज्ञान आधारित आर्थिक विकास यात्रा को त्वरित गति मिल सकेगी।

भारत तथा यूरोपीय संघ ने भी एक साथ मिलकर जीव विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी तथा नेनो टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में एक साथ मिलकर शोध गतिविधियों को आगे बढ़ाने में रुचि दिखाई है। भारत तथा यूरोपीय संघ के देश इस काम के लिए अपने संसाधनों तथा ज्ञान का मिलकर उपयोग करेंगे।

इतिहास लेखन का अन्तर्राष्ट्रीय विवाद

शंकर शरण*

विगत अप्रैल में जब जापान के शिक्षा मन्त्रालय ने नई इतिहास पुस्तकों को स्वीकृति दी तो चीन के कई शहरों में उग्र प्रदर्शन आरम्भ हो गया। वहाँ स्थित जापानी दूतावास, वाणिज्य कार्यालयों, जापानी कम्पनियों और दुकानों पर पथराव किया गया। 16 अप्रैल को शंघाई में एक विशाल जापान विरोधी मार्च आयोजित किया गया। इसके बाद पूरे देश में मोबाइल सन्देशों द्वारा अधिक-से-अधिक चीनियों तक यह आग्रह पहुँचाया गया कि वे 1 मई से 1 जून तक, पूरे महीने जापानी वस्तुओं का बहिष्कार करें। तब जापान और चीन के सम्बन्ध पिछले अनेक वर्षो में सबसे निचले स्तर पर आ गए।

और ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि विश्व युद्ध में जापान की भूमिका के प्रति दोनों देशों का दृष्टिकोण भिन्न है। यह विवाद कम-से-कम तेईस वर्ष से चल रहा है। कुछ जापानी पाठ्य-पुस्तकों में चीन पर जापान के आक्रमण को जापान की 'बढ़त' बताया जाता रहा है। 1937 में नानजिंग में हुए नरसंहार में कोई तीन लाख चीनी मारे गए थे। जापानी पुस्तकों में लिखा गया कि इसका कारण चीनी सेना द्वारा किया गया 'जबर्दस्त प्रतिरोध' था। चीन द्वारा प्रतिवाद किए जाने पर इन पुस्तकों में कुछ सुधार तो किए गए, किन्तु चीन का कहना है कि द्वितीय विश्व युद्ध में अपनी भूमिका के लिए जापान ने पर्याप्त प्रायश्चित नहीं किया है। कि जापानी इतिहास पुस्तकें उन सब चीजों पर पर्दा डालती हैं, जिसे चीन जापानियों का 'अपराध' कहता है। यद्यपि जिस पुस्तक को लेकर इस अप्रैल में विवाद आरम्भ हुआ, वह जापान के प्रायः 0.1 प्रतिशत स्कूलों में ही पढ़ाई जाती है।

इस मामले में दक्षिण कोरिया भी चीन के साथ है। दक्षिण कोरिया में भी इस बात को लेकर आक्रोश रहा है कि जापान ने उन वर्षों के अपने कारनामों को स्वीकार करने से बचने की प्रवृत्ति बनाए रखी है।

लेकिन सच यह है कि इतिहास को लेकर यह लुका-छिपी एक तरफा नहीं है। स्वयं चीनी और कोरियाई इतिहास पुस्तकें भी इतिहास लेखन का कोई आदर्श नहीं हैं। एक कठोर कम्युनिस्ट तानाशाही होने के कारण चीन में इतिहास के लेखन-पाठन पर पूरा नियंत्रण है। चीनी नेता जापान या पश्चिमी शक्तियों की दुष्टता के बारे में बार-बार कटु वचन बोलते हैं। किन्तु स्वयं चीनी इतिहास पुस्तकों ने अपने ही देश के बड़े-बड़े ऐतिहासिक अध्यायों पर भारी पर्दा डाले रखा है। माओ की 'ऊँची छलाँग' (जिसमें जल्दी समाजवादी लक्ष्य पा लेने, और सोवियत संघ के बराबर पहुँच जाने के उद्देश्य से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को तुरत राजकीय स्वामित्व में ले लिया गया था और परिणाम स्वरूप पूरा अर्थतंत्र चौपट हो गया था) वाले दौर में लगभग तीन करोड़ चीनी लोग बेमौत मारे गए। उसके बाद घटित दस वर्षीय कुख्यात 'सांस्कृतिक क्रांति' (1966-76) की अमानुषिक बर्बरता के बारे में भी चार व्यक्तियों, कथित 'गैंग ऑफ फोर' पर सारी जवाबदेही डाल कर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को बिलकुल निर्दोष दिखाया जाता है। इसी तरह चीनी इतिहास पुस्तकों में तिब्बत में निरीह तिब्बतियों पर हुए भयंकर दमन, वहाँ के अनेक ऐतिहासिक बौद्ध मठों और स्तूपों का विध्वंस, 1962 में भारत पर आक्रमण, 1979 में वियतनाम पर आक्रमण, 1989 में ताईनानमेन चौक पर असंख्य छात्रों को टैंक से रौंदे जाने, आदि के बारे में या तो कुछ नहीं बताया जाता, या फिर पूर्णतः मिथ्या चित्र दिखाया जाता है।

उदाहरण के लिए आठवीं कक्षा के लिए तैयार की गई एक चीनी पाठ्य-पुस्तक 'ऊँची छलाँग' के बारे में कहती है, "ऊँची छलाँग और सामूहिकीकरण के काल में तीन वर्ष में कई प्राकृतिक विपदाएँ आईं...राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और देश व जनता की बड़ी भारी हानि हुई।" इस प्रसंग को पढ़ाए जाने के बारे में शिक्षकों के लिए तैयार निर्देश-पुस्तिका (मैनुअल) में लिखा हुआ है, "यह पाठ्य-पुस्तक उन भारी आर्थिक कठिनाइयों की परिस्थितियों का कोई वर्णन नहीं करती। अतः शिक्षक को इनके बारे में विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है।" अर्थात्, न केवल 'ऊँची छलाँग' के बारे में कोई सच्चाई पुस्तक में नहीं लिखी गई है, वरन शिक्षक को भी निर्देश दे दिया गया है कि वह यदि जानता भी है, *तो बच्चों को कुछ न बताए!*

इसी प्रकार 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के बारे में वही चीनी पाठ्य-पुस्तक बताती है कि, "1966 से 1976 तक के दस वर्षों में सांस्कृतिक क्रान्ति की उथल-पुथल रही। इन दस वर्षों में असंख्य भयावह घटनाएँ घटीं। देश के राष्ट्रपति ल्यू शाओ ची को यातना देकर मार डाला गया, षड्यन्त्रकारी लिन पियाओ ने एक प्रतिक्रान्तिकारी तख्ता-पलट का आरम्भ किया, 'गैंग ऑफ फोर' ने पार्टी की सत्ता पर कब्जे का विफल प्रयास किया।" फिर इस प्रसंग के बारे में भी शिक्षकों के लिए निर्देश-पुस्तिका में लिखा है, "जो पाठ में लिखा है, शिक्षकों को वही पढ़ाना है, उसे उसमें कुछ जोड़ने या विस्तार से पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है।"

दक्षिण कोरिया में भी कक्षा दस तक इतिहास पुस्तकें सरकार द्वारा तैया करवाई

---

*लेखक राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद में राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक है)

जाती हैं। उनकी स्थिति तथ्यों और विवरणों की दृष्टि से बेहतर है। लेकिन उनमें भी उत्तरी कोरिया के बारे में कुछ नहीं बताया जाता। उत्तरी कोरिया में कई दशकों से कम्युनिस्ट तानाशाही और सर्वोच्च तानाशाह किम इल सुंग तथा उसके बाद उसके बेटे किम जोंग इल का मनमाना, अत्याचारी शासन रहा है। वहाँ भी सोवियत ढंग के क्रूर यातना शिविर रहे हैं। कम्युनिस्ट प्रयोगों की वजह से वहाँ भी भारी अकाल पड़े, जिसमें बड़ी संख्या में लोग मरे। किन्तु दक्षिण कोरियाई पुस्तकों में इन सबके बारे में कुछ नहीं बताया जाता। सम्भवतः इसका कारण यह है कि दक्षिण कोरिया सरकार लम्बे समय से उत्तरी कोरिया के साथ सामान्य सम्बन्ध बनाने और उसे उग्र सैन्यवादी नीति से विमुख करने का प्रयास कर रही है।

इतिहास के बारे में ऐसे विवाद और लीपा-पोती केवल जापान, चीन और कोरिया तक सीमित नहीं है। पिछले पाँच-सात वर्षों से भारत में इतिहास लेखन और इतिहास पुस्तकों को लेकर जो तीखी बहस रही है, उसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दुनिया के अनेक देशों में एक ही घटना, प्रसंग या व्यक्ति को लेकर पूर्णतः विरोधी विचार मौजूद हैं। समझना चाहिए कि उन विचारों का आधार, उनसे निकलने वाले निष्कर्ष क्या हैं? और किस हद तक वह सत्य के निकट या दूर हैं। यह सम्भव है कि कभी-कभी राष्ट्रीय हित या राष्ट्रीय अभिमान (या अहंकार) किसी को सत्य स्वीकार करने से रोके। अथवा किसी विचारधारा के प्रति अंधभक्ति भी तथ्यों, सच्चाइयों के प्रति किसी को संवेदनहीन बनाए रखे। अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालने से इस जटिलता का आभास होता है।

अतः बात केवल भारत की नहीं। चीन, जापान, कोरिया, ताइवान, कनाडा, ब्रिटेन, वेल्स, रूस, उक्रेन, सोवियत संघ से अलग हुए सभी देश, इजराइल, फिलीस्तीन, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों में भी इतिहास लेखन को लेकर विवाद चलता रहा है। विशेष कर कनाडा, ऊक्रेन, रूस, जापान में निरंतर इस बात पर बहस चल रही है कि इन देशों के स्कूल-कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में इतिहास की पुस्तकों की विजय-वस्तु क्या हो, उनका कथ्य, पढ़ाने की पद्धति क्या हो, आदि। जैसा स्वाभाविक है, इन तमाम बहसों, विवादों ने सार्वजनिक रूप ग्रहण कर लिया है। अर्थात इतिहास के विद्वान और विद्यार्थियों के अतिरिक्त दूसरे क्षेत्र के और आम नागरिक भी इसमें दिलचस्पी और हिस्सा लेते रहे हैं। अतः हमारे देश में पिछले कई वर्षों से जो विवाद हो रहा है, वह कोई अपवाद नहीं है।

अपने देश में इतिहास सम्बन्धी बहस और शैक्षिक निर्णयों को अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य की पृष्ठभूमि में देखना-समझना लाभदायक ही नहीं, आवश्यक भी है। क्योंकि तभी हम अपनी स्थिति का उपयुक्त मूल्यांकन करने में समर्थ होंगे। अर्थात् यह देख पाने में कि किस इतिहास पुस्तकों में पढ़ाई जा रही बातें, या उनमें किए गए परिवर्तन कितने सामान्य या असामान्य हैं, कितने आवश्यक या अनावश्यक हैं, कितने उचित या अनुचित हैं। विशेषकर इसलिए क्योंकि अधिकांश देशों में विवाद के प्रश्नों में कुछ बातें समान हैं। जैसे, राष्ट्रीय पहचान और गौरव, राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का सुदृढ़ीकरण, अपनी सांस्कृतिक परम्परा पर जोर, एक ही ऐतिहासिक घटना का अपने-अपने देश के दृष्टिकोण से भिन्न मूल्यांकन एवं अध्ययन, उसका वर्तमान सन्दर्भ, सामयिक मूल्य आदि। अधिकांश देशों में अच्छा-खासा विवाद इस पर केन्द्रित रहा है कि स्कूल-कॉलेजों के पाठ्यक्रम और पुस्तकों में उक्त प्रश्नों पर क्या रूख लिया जाए जो बदलते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में उपयुक्त भी हों और राष्ट्रीय स्वाभिमान को ठेस भी न पहुँचाए। ब्रिटेन, जापान, ताइवान, कोरिया आदि देशों में विवाद का एक विषय यह भी है कि आखिर इतिहास के अध्ययन की प्रकृति और उद्देश्य क्या है? इस प्रकार शिक्षा, पाठ्यक्रम, गुणवता, नीति और इतिहास सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर दूसरे देशों में विभिन्न दृष्टिकोण से हो रही चर्चाओं के परिप्रेक्ष्य में ही अपने देश की स्थिति को हम अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे।

दो वर्ष पहले ब्रिटेन में शिक्षा क्षेत्र में प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर द्वारा लाए गए बिल को लेकर भारी बहस शुरू हुई। वहाँ पारम्परिक रूप से विभिन्न प्रकार के चर्चों द्वारा देश भर में बड़ी संख्या में स्कूल चलाए जाते हैं। उनकी गुणवत्ता भी बड़ी अच्छी मानी जाती है। उन स्कूलों में केवल सम्बन्धित ईसाई सम्प्रदाय ही नहीं, बल्कि अन्य ईसाई तथा दूसरे धर्म समुदाय के बच्चे भी पढ़ते हैं। इन स्कूलों को सरकार की तरफ से अनुदान भी मिलता है। किन्तु वर्ष 2003 में सरकार द्वारा कुछ और स्कूलों को भी सहायता दिए जाने की घोषणा से विवाद शुरू हो गया। कुछ अन्य धर्मावलंबियों ने भी अपने स्कूलों को राजकीय सहायता दिए जाने की माँग शुरू कर दी। यद्यपि सरकार को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु जनमत इसके विरुद्ध खड़ा हो गया। 11 सितम्बर 2001 को न्यूयॉर्क में हुए आतंकवादी विध्वंस के बाद यूरोप और अमेरिका में मदरसों जैसी शैक्षिक संस्थाओं की उपयोगिता के प्रति आमतौर पर भारी सन्देह बढ़ा है। टोनी ब्लेयर द्वारा गैर-ईसाई, विशेषकर इस्लामी मजहबी संस्थाओं द्वारा चालित स्कूलों को प्रस्तावित सहायता का जनमत द्वारा विरोध इसी भावना की अभिव्यक्ति थी। ब्रिटिश जनता के बड़े हिस्से को प्रतीत हुआ कि तब तो राजकीय सहायता लेकर कुछ स्कूल ऐसे विचारों की शिक्षा भी देंगे जो मध्ययुगीन, असहिष्णु, स्त्रियों और दूसरे धर्मावलंबियों के लिए अत्यन्त अपमानजनक और इसलिए ब्रिटिश समाज के लिए अस्वीकार्य हैं। इस विरोध के बाद ब्रिटिश शिक्षा मंत्री एस्टेल मौरिस ने बीच का मार्ग निकालने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि राजकीय सहायता पानेवाले सभी स्कूलों को कुद बुनियादी मूल्यों के साथ एक राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, धार्मिक और जातीय पहचान के अंग के रूप में नागरिकता की शिक्षा भी देनी होगी। सभी राजकीय स्कूलों को भी विभिन्न समुदायों की समानता, मानवाधिकार आदि के प्रति प्रतिबद्ध रहना होगा। किन्तु विवाद खत्म नहीं हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि

इन बिन्दुओं पर विवाद इतनी जल्द समाप्त होनेवाला नहीं।

ब्रिटेन में रनीमीड ट्रस्ट द्वारा 'बहुजातीय ब्रिटेन का भविष्य' विषय पर तैयार की गई रिपोर्ट (2001) पर भी भारी विवाद हुआ था। इसमें ब्रिटिश समाज की पारम्परिक विशेषताओं को नकारते हुए नए बहु-जातीय ('मल्टी-कल्चरल') ब्रिटिश समाज के लिए कई भड़काऊ अनुशंसाएँ की गई थी। इसमें यह अनुशंसा भी थी कि समय-समय पर स्कूलों की जाँच हो कि वहाँ नस्ली समानता और सांस्कृतिक विविधता के सिद्धान्त का पालन हो रहा है या नहीं। यह भी कहा गया कि सभी अखबार और बड़े संस्थान अपने तमाम कर्मचारियों का नस्ली, मजहबी विवरण प्रकाशित किया करें, ताकि पता चले कि वे समुचित संख्या में अल्पसंख्यकों, विभिन्न धर्मावलंबियों की नियुक्ति कर रहे हैं या नहीं। इसी तरह ब्रिटिश सम्प्रभु (क्राउन) द्वारा ली जानेवाली शपथ में भी परिवर्तन करने की अनुशंसा की गई। सरकार से यह भी कहा गया कि वह ब्रिटेन के बहुजातीय (अर्थात मात्र ईसाई नहीं) समाज होने की 'औपचारिक घोषणा' करे, आदि आदि। सरकार ने पहले तो रिपोर्ट को सामयिक बताते हुए इसकी प्रशंसा की, किन्तु दो दिन के अन्दर ही उसे पलटने पर विवश होना पड़ा। क्योंकि देश की मूल जनसंख्या द्वारा इस रिपोर्ट पर अत्यन्त तीखी प्रतिक्रिया हुई। ब्रिटेन की कुल साढ़े पाँच करोड़ जनसंख्या में चौरानबे प्रतिशत नागरिक ईसाई और कई शतियों से ब्रिटिश मूल के हैं। शेष छः प्रतिशत में हाल के दशकों में विभिन्न देशों से आए आव्रजक तथा अन्य लोगों की गिनती है। इनमें ज्यादातर पाकिस्तानी, अफ्रीकी, अरबी, भारतीय मूल के तथा अन्य देशों से बेहतर रोजी-रोटी की तलाश में आकर बसे हुए लोग हैं। अधिकांश तो मात्र एक-दो दशक से ब्रिटेन में रह रहे हैं।

इन्हीं दो-चार प्रतिशत लोगों को और अधिक अधिकार देने के लिए रनीमीड रिपोर्ट पूरी ब्रिटिश आबादी से अपनी पारम्परिक मान्यताओं, ऐतिहासिक प्रतीकों और अवधारणाओं को छोड़ने के लिए कह रही थी! उसके अनुसार सांस्कृतिक विविधता ('मल्टी-कल्चरिज्म') के सिद्धान्त के आदर के लिए यह आवश्यक है। इस रिपोर्ट की अनुशंसाओं से ब्रिटिश जनमत इतना क्रुद्ध हुआ कि सरकार को तुरन्त रिपोर्ट को निरस्त कर अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी। यह रिपोर्ट और इसकी अनुशंसाएँ तैयार करनेवालों में लिंडा कॉली, नार्मन डेवीज जैसे कुछ रेडिकल, मार्क्सवादी प्रोफेसर भी थे। लिंडा इतिहास की प्रोफेसर हैं और ब्रिटेन के बारे में उनकी लेखन-शैली लगभग वही है, जैसे भारत में वामपंथी इतिहासकारों की भारत के बारे में है। अर्थात, देश की प्रमुख, स्पष्ट पहचान को बलपूर्वक उपेक्षित कर किसी विशेष मताग्रही दृष्टिकोण से उसे एक कृत्रिम, मनगढ़त रूप में प्रस्तुत करना। राष्ट्रीय गौरव को 'अंधराष्ट्रवाद' बताना और सामान्य सामाजिक स्थितियों, त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ाकर इस तरह प्रस्तुत करना जिससे देश की मूल जनसंख्या 'मेजोरिटेरियन' अपराधी की तरह दिखे। इस प्रकार रनीमीड रिपोर्ट ने भी ब्रिटिश समाज में शिक्षा-संस्कृति, इतिहास और राष्ट्रीय पहचान सम्बन्धी मुद्दों को नए सिरे से उठाया, जिस पर वहाँ निरंतर चर्चा चल रही है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में बाइस वर्ष पहले देश भर में शिक्षा की गुणवत्ता में गिरते स्तर पर बेहद चिन्ता प्रकट की गई थी। वहाँ के शिक्षा विभाग ने एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय आयोग बनाकर उसे इस पर विचार करने का आग्रह किया था। इस आयोग ने अपनी 'ए नेशन एट रिस्क' (1983) शीर्षक रिपोर्ट में कई महत्त्वपूर्ण बातें कही थी। वह रिपोर्ट वहाँ आज भी सामयिक मानी जाती है। उसके बिन्दुओं, आकलनों पर विचार चल रहा है। इस अमेरिकी विमर्श में कही गई बातें हमारे लिए कई दृष्टियों से अध्ययन करने लायक है। उससे पता चलता है कि दुनिया का एक अग्रणी देश अपने यहाँ शिक्षा को कैसे व्याख्यायित करता है, शिक्षा से क्या आशा रखता है, और क्या आशा नहीं करता। उदाहरण के लिए, अमेरिका में स्कूलों से अपेक्षा की जाती है कि वह छात्र-छात्राओं के मानसिक और आध्यात्मिक विकास को सर्वोच्च स्तर तक ले जाने में सहायक हों। ताकि बच्चे आगे चलकर न केवल उपयुक्त रोजगार के योग्य बनें बल्कि अपने जीवन को सँवारने योग्य भी बनें। केवल इसी तरह वे अपनी और समाज की प्रगति के लिए काम कर सकेंगे। उक्त रिपोर्ट के अनुसार स्कूलों पर इसके अतिरिक्त और किसी तरह का बोझ नहीं लादा जाना चाहिए। जैसे, स्कूली शिक्षा से देश, समाज, या वैयक्तिक समस्याओं के समाधान की उम्मीद नहीं की जानी चाहिए। *यदि ऐसा किया जाता है तो यह शिक्षा की कीमत पर ही होगा।* आज दुनिया में जानकारी, हुनर, सूचना और दिमागी तेजी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और व्यापार में एक तरह के कच्चे माल की तरह हैं जिसमें पिछड़ना हर क्षेत्र में पिछड़ने के बराबर है।

इसलिए, अमेरिकी दृष्टिकोण के अनुसार, शिक्षा उतना ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है जितना कोई भी और क्षेत्र। इसके अतिरिक्त अमेरिकी यह भी आवश्यक मानते हैं कि उनके नागरिकों में यह योग्यता होनी चाहिए कि वे कुछ जटिल बिन्दुओं पर देश हित में, कभी-कभी बिलकुल कम समय में, एक सामान्य समझ बनाने में सफल हो सकें। अमेरिकी शिक्षा-शास्त्री मानते हैं कि बच्चों में पढ़ने और सरल गणितीय हिसाब-किताब की तुलना में समझ, विवेक, विश्लेषण और निष्कर्ष निकालने की योग्यता का अधिक महत्त्व है। उनमें कुछ इस बात पर भी चिन्तित हैं कि तकनीकी और रोजगारपरक हुनर पर इतना जोर न दिया जाए कि बच्चों को साहित्य, कला और मानविकी सम्बन्धी ज्ञान के लिए समय ही न बचे। उनके विचार में सामाजिक, मानवीय और कलात्मक मूल्य ही जीवन और समाज को समृद्ध करते हैं। विज्ञान व तकनीक का रूप एवं उपयोग मानवीय और रचनात्मक रह सके, इसके लिए उसके विद्यार्थियों द्वारा साहित्य, दर्शन और कला का अध्ययन, आस्वादन करते रहना भी आवश्यक है।

'ए नेशनल एट रिस्क' ने ये नोट किया था कि अब तक प्रत्येक अमेरिकी पीढ़ी शैक्षिक और आर्थिक उपलब्धियों में अपनी पिछली पीढ़ी से आगे बढ़ती रही है। यह पहली बार हुआ है कि नई पीढ़ी (यह पिछली पीढ़ी का उल्लेख है) अपने पहले वाली

पीढ़ी के बराबर भी नहीं पहुँच पाई है। रिपोर्ट ने आँकड़ा से पाया कि सामान्य ज्ञान, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी आदि में नई पीढ़ी के अमेरिकी स्नातक कमजोर दिख रहे हैं। हाई स्कूलों से निकलने वाले छात्रों में ऐसे बड़ी संख्या में हैं, जो न विशेष उच्चतर शिक्षा की ओर बढ़ने, न रोजगार के ही योग्य हैं। इसका अर्थ यह कि स्कूली शिक्षा में कहीं-न-कहीं खामी आ गई है। इसकी गुणवत्ता पर असर पड़ा है। उन्होंने इस पर भी विचार किया कि प्रतिभावान छात्रों को प्रोत्साहन और हरेक छात्र की समानता के सिद्धान्त के पालन में व्यावहारिक संतुलन रखा जाए। न तो उत्कृष्टता के नाम पर एक ऊँचा विशिष्ट वर्ग बन जाए, न ही समानता के नाम पर औसत या मंदबुद्धि को हर जगह स्थान मिलता रहे। इस बात पर अमेरिकी समाज एकमत है कि समाज की समृद्ध गति का इंजन शिक्षा ही है। इसी से आपसी जुड़ाव का भाव बनता है और बाहरी दुनिया के साथ सार्थक सम्बन्ध भी। अतः शिक्षा के प्रति कोई ढिलाई नहीं होनी चाहिए। उस रिपोर्ट के बाद विभिन्न संघीय सरकारों ने कई सुधार किए और नए कानून बनाए। देश भर में शिक्षा और शिक्षकों की गुणवत्ता में सुधार, पढ़ाई की पद्धति में परिवर्तन सम्बन्धी कई नए उपाय किए गए। उसके परिणामों पर संतोष, असंतोष दोनों प्रकट किए जा रहे हैं। आज भी संयुक्त राज्य अमेरिका में 'ए नेशन एट रिस्क' के बाद से चली बहस खत्म नहीं हुई है।

जैसा ऊपर चीन और जापान के बीच देखा गया, उसी तर्ज पर कुछ वर्षों से जापान और दक्षिण कोरिया के बीच भी इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों को लेकर तीखा विवाद चल रहा है। इस सरगर्म बहस में इन देशों का लगभग हरेक तबका शामिल है। विवाद का विषय है कि पूर्वी एशिया में जापानी और चीनी उपनिवेशवाद के बारे में बच्चों को क्या, कितना और कैसे बताया जाए। यह सब निकट इतिहास की बातें हैं, जिन्हें देखने-झेलने वाली पीढ़ियों के लोग अभी भी जीवित हैं। किन्तु जो स्मृतियाँ कोरियाई समाज के लिए अपमान और दुःख का विषय हैं, वह जापान के लिए कुछ भिन्न चीज हैं। जैसा चीन के सन्दर्भ में भी पाया गया, इतिहास में युद्ध की जिस घटना को कोरियाई 'आक्रमण' कहते हैं, वही जापानियों के लिए 'बढ़त' हो जाती है। चाहे जापानियों को अपने साम्राज्यवादी, सैन्यवादी अतीत पर गर्व न भी हो, तब भी वे उसके प्रति वैसा विवरण बच्चों को नहीं पढ़ाना चाहते जो कोरिया में पढ़ाया जाता है। लेकिन चूँकि दोनों देशों की भौगोलिक स्थिति निकट है, इसलिए एक-दूसरे की पाठ्य-पुस्तकों के भिन्न पाठ दोनों जगह कटु बहस का विषय बनते रहे हैं। इन पाठों पर नैतिक दृष्टि और मानवोचित दृष्टि से तरह-तरह के सवाल उठाए गए हैं। इस पर जापान में तीव्र अंदरूनी बहस भी रही है, जहाँ विभिन्न विचारधारा के लेखक-बुद्धिजीवी जापान की सैन्यवादी ऐतिहासिक भूमिका को लेकर उलझते रहे हैं। तीन-चार वर्ष पहले 'अताराशी रेकीशी' (नया इतिहास) पर वहाँ एक बड़ा सार्वजनिक विवाद हुआ था। वस्तुतः जापान की राष्ट्रीय बहस में इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों का प्रश्न केवल

शिक्षा को ही नहीं, वरन जापान की वर्तमान सैनिक और प्रतिरक्षा नीति, संवैधानिक सुधार और पड़ोसी देशों के साथ इसके सम्बन्धों तक को प्रभावित करती है। इसीलिए इस बहस की गूँज जापान की सीमाओं से बाहर भी आती रही है। 2001 में कोरियाई सरकार ने एक दस्तावेज तैयार किया। इसमें जापान से उसकी आठ पाठ्य-पुस्तकों में कुल पैंतीस बिन्दुओं पर संशोधन और सुधार करने की माँग की गई थी। इस प्रकार अपने-अपने देशों में 'ऐतिहासिक समझ से सचेत नागरिक' बनाने के उद्देश्य से एक ही घटनाक्रम की जापान और कोरिया में भिन्न-भिन्न व्याख्या उनके स्कूली पाठ्य-पुस्तकों पर अन्तर्राष्ट्रीय टीका-टिप्पणियों को भी आमंत्रित करती रही है।

ताइवान और चीन के बीच भी बीसवीं सदी के इतिहास की अनेक घटनाओं पर व्याख्यान और तथ्य सम्बन्धी विवाद है। दोनों देश कभी एक ही देश थे। लेकिन 1949 में माओवादी कम्युनिस्ट क्रान्ति के बाद ताइवान (जो पहले फारमूसा कहा जाता था) एक अलग देश के रूप में विकसित हुआ। उसने अपने ऊपर पेकिंग (अब बीजिंग) की कम्युनिस्ट सत्ता को कभी स्वीकार नहीं किया। यद्यपि कम्युनिस्ट चीन आज भी ताइवान को अपना 'गद्दार' अंग मानकर उस पर अपना दावा करता है, किन्तु पिछले छप्पन सालों में ताइवान की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से विकसित और शक्ति-सम्पन्न होती रही है। आज ताइवान की एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक हैसियत है। इस बीच ताइवान में दो नई पीढ़ियाँ तैयार हुई जिनके लिए राष्ट्रवाद और इतिहास का अर्थ कम्युनिस्ट शासित चीनी विवरणों से मूलतः भिन्न है। ताइवान का स्वतन्त्र राजनीतिक, बौद्धिक जीवन किसी स्थिति में अपने ऊपर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। न राजनीतिक, न बौद्धिक क्षेत्र में। दूसरी तरफ इतिहास की चीनी (कम्युनिस्ट) व्याख्याएँ समय-समय पर स्वयं बदलती रही हैं। आज की सूचना-क्रान्ति के युग में भी देश-विदेश के निकट इतिहास की कई बड़ी-बड़ी घटनाओं पर भी चीनी पाठ्य-पुस्तकों में मौन छाया हुआ है। इससे नई चीनी पीढ़ी को उलझन होती है और सत्ताधारियों को भी वैधता सम्बन्धी संकट का सामना करना पड़ता है। जैसा हमने देखा, चीनी पाठ्य-पुस्तकें इतिहास के अनेक बड़े प्रसंगों, अध्यायों पर लिखने-बोलने में संकट महसूस करती हैं। किन्तु इतिहास की ताइवानी व्याख्या भी समस्याओं से मुक्त नहीं है। इस पर ताइवानी समाज में विचार होता रहा है कि भूत, वर्तमान के आकलन को भविष्य की सम्भावनाओं के सन्दर्भ में किस तरह समायोजित किया जाए। ठीक उसी तरह जैसे दक्षिण कोरिया उत्तरी कोरिया के सन्दर्भ में संतुलन, समायोजन का प्रयास कर रहा है।

इजराइल में भी पाठ्य-पुस्तकों को लेकर विवाद है। वहाँ भी इतिहास और वर्तमान के बीच गुत्थम-गुत्था इतना जटिल और समस्याग्रस्त है कि किसी भी अवलोकनकर्ता के लिए उस पर पक्की राय बनाना या कोई निर्णय देना अत्यन्त

कठिन कार्य है। ऐसी स्थिति में स्कूली शिक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने वालों का काम कितना कठिन है, इसकी कल्पना की जा सकती है। आज इजराइल एक अत्यन्त विकसित और विज्ञान-तकनीक की दृष्टि से अग्रगण्य देश हैं। फिर भी इजराइल और फिलीस्तीन के इतिहास को तथ्यपरक ढंग से लिखना, और वर्तमान सन्दर्भ में देश के लिए स्वाभिमानी, देशभक्त नागरिकों की नई पीढ़ी तैयार करनाइन दोनों कामों के साथ न्याय पर पाना इजराइली इतिहासकारों, लेखकों के लिए टेढ़ी खीर साबित होता रहा है। इसीलिए कोई भी पाठ्य-पुस्तक समस्या या आलोचना से मुक्त नहीं रह पाती।

फिर उस अरब क्षेत्र में इजराइल, मिस्त्र और जार्डन के बीच भी पाठ्य-पुस्तकों को लेकर विवाद है। इस विवाद में संयुक्त राष्ट्र की दो संस्थाएँयूनेस्को और यू. एन. आर. डब्ल्यू. ए. (फिलीस्तीन क्षेत्र के लिए संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी और कार्य एजेंसी)भी उलझी हुई हैं। इजराइल का कहना है कि मिस्त्र और जार्डन की पुस्तकें इजराइल के प्रति अत्यन्त अपमानजनक हैं। दूसरी तरफ मिस्त्र और जार्डन की शिकायत है कि फिलीस्तीनी स्कूलों में इजराइल उनकी पुस्तकें आने नहीं देता। वेस्ट बैंक और गाजा क्षेत्र में यू. एन. आर. डब्ल्यू. ए. द्वारा चलाए जा रहे स्कूलों में भी पाठ्य-सामग्री पहुँचने में मुश्किल हो रही थी। इसलिए यूनेसको को मध्यस्थता के लिए आगे किया गया। अब वह पाठ्य-पुस्तकों की समीक्षा कर रहा है, ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि कौन-सी पाठ्य-सामग्री उचित है और कौन-सी नहीं। यूनेस्को उस क्षेत्र के सभी सम्बन्धित देशों से विभिन्न पाठ्य-सामग्रियों को संशोधित करने, एवं उनमें सुधार करने के लिए भी आग्रह करता रहा है। 1994 में इजराइली क्षेत्र में फिलीस्तीनी प्राधिकार बन जाने के बाद से समस्या और जटिल हो गई है, क्योंकि अब गाजा और वेस्ट बैंक में शिक्षा कार्य पर उसका नियंत्रण है। उसने नए सिरे से पाठ्य-चर्या और पाठ्य-पुस्तक निर्माण का काम शुरू किया। इनमें कई पुस्तकों पर इजराइल की सरकार को कड़ी आपत्ति हुई। पाठ्य-पुस्तकों की सामग्री पर इस तरह की क्रिया-प्रतिक्रिया उस क्षेत्र में लम्बे समय से चल रही है और कोई आशा नहीं कि उसका कोई शीघ्र समाधान होगा। विवेकवान लोगों का मानना है कि इस क्षेत्र के सभी लोग अपने इतिहास के किसी एक विवरण और व्याख्या पर शायद ही सहमत होंगे। समय के साथ विभिन्न मतावलंबियों को अपनी-अपनी विभिन्न व्याख्याओं के साथ दूसरों के साथ शान्ति, सामंजस्य के साथ रहना सीखना होगा।

पाकिस्तान की स्थिति अपने ही ढंग की बेढब है। वहाँ पाठ्य-पुस्तकों में इतिहास की प्रस्तुति तरह-तरह की विचित्र समस्याओं से ग्रस्त है। पाकिस्तानी शिक्षा जगत के लिए न केवल निकट इतिहास वरन सम्पूर्ण इतिहासभारतवर्ष का प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक इतिहाससदैव एक चुनौती की तरह रहा है। ‘द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त’ की अहंकारी विचारधारा पर उस देश का निर्माण होने के कारण पाकिस्तानी लेखकों, बुद्धिजीवियों और इतिहासकारों को पूरे इतिहास को सदैव इस रूप में देखन की विवशता महसूस होती है जो उनके देश के निर्माण, वर्तमान और अस्तित्व को उचित ठहराए। मनोरंजक बात यह है कि ऐसा नहीं कि कोई उन्हें चुनौती देता है, बल्कि अपने बौद्धिक क्रिया-कलापों में पाकिस्तानी लेखक, बुद्धिजीवी स्वयं इसके प्रति संवेदनशील रहते हैं। इसके लिए इतिहास की सभी घटनाओं को उसी रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की जाती है, जो इस्लामी श्रेष्ठता के एकांतिक आधार पर अंततः पाकिस्तान के निर्माण को सुसंगत ठहरा सके। इसीलिए वहाँ इतिहास-लेखन तरह-तरह के अन्तर्विरोधों से ग्रस्त रहा है। स्कूली पाठ्य-पुस्तकें इससे मुक्त नहीं हैं। दो वर्ष पहले एक अमेरिकी अध्येता ईयेत क्लेर रोस्सेर ने पाकिस्तानी पाठ्य-पुस्तकों पर अपना एक अध्ययन *‘इस्लामाइजेशन ऑफ पाकिस्तानी सोशल स्टडीज टेक्स्ट-बुक्स* (रूपा एण्ड कं., नई दिल्ली, 2003) प्रकाशित किया। इससे पता चलता है कि किस तरह पाकिस्तान में इतिहास-लेखन और पाठ्य-पुस्तकों को लेकर तरह-तरह की दुविधा और समस्याएँ हैं।

उदाहरण के लिए, अपने शुरुआती दौर में पाकिस्तानी पाठ्य-पुस्तकों में प्राचीन भारत के बारे में भी पाठ और विवरण होते थे। अर्थात् जिस धरती पर आज पाकिस्तान खड़ा है, वहाँ का इस्लाम-पूर्व इतिहास ओर उससे सम्बन्धित जानकारियाँ भी बच्चों को थोड़ी-बहुत दे दी जाती थी। किन्तु 1978 के बाद से पाठ्य-पुस्तकों का कथ्य बड़े पैमाने पर बदल दिया गया। उनमें कट्टर इस्लामी आग्रहों का शिक्षण बढ़ाया जाने लगा। परिणामस्वरूप, अब पाकिस्तानी पाठ्य-पुस्तकों में पाकिस्तान का इतिहास आठवीं शती से, अर्थात् इस्लाम के उदय के बाद से शुरू होता है। उसके पहले सब कुछ ‘जाहीलिया’ था। उसके बाद भी सभी प्रस्तुतियाँ सामान्य नहीं चलतीं। विवरणों में बीच-बीच में कई शतियाँ गुम हो जाती हैं। बड़ी-बड़ी घटनाएँ और ऐतिहासिक महापुरुषों का उल्लेख नहीं होता। कुल मिलाकर केवल उन्हीं घटनाओं का उल्लेख किया जाता है जिससे ‘इस्लामी बढ़त’ और अंततः पाकिस्तान का निर्माण सुनिश्चित प्रतीत हो। (यह कुछ-कुछ सोवियत मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की तरह है जिसमें रूस समेत संपूर्ण मानवता के इतिहास को इस तरह लिखा जाता था जिससे बीसवीं सदी में समाजवादी क्रान्ति और विश्व साम्यवाद की निरंतर, अग्रगामी ‘बढ़त’ अपरिहार्य दिखे।) इस कारण पाकिस्तानी पाठों में विचित्र अंतर्विरोध भी दिखते हैं, समस्याएँ भी आती हैं। इस्लामी विचारधारा से ग्रस्त होने के कारण वहाँ अधिकांश लेखकों के लिए प्राचीन, मध्यकालीन, ब्रिटिश कालीन इतिहास, सनातनी हिन्दुओं, बौद्धों, सिखों के बारे में ऐतिहासिक जानकारी, भारत विभाजन के कारण सांस्कृतिक विरासत, बंगलादेश का उदय आदि असंख्य विषयों पर सुसंगत विवरण देना कठिन होता रहा है। कई ऐतिहासिक घटनाओं के तथ्य और व्याख्या के प्रति पाकिस्तान में पंजाबी, सिंधी, बलूच आदि विभिन्न लोगों के बीच गहरे मतभेद भी हैं। उन पर कभी

तीखी चर्चा नहीं सुनी जाती, किन्तु उनके बारे में मतभेद प्रायः राजनीतिक मतभेदों में झलकते हैं। शिक्षा जगत में समझदार लोगों द्वारा इस पर चिन्ता प्रकट की जाती है कि ऐसे कृत्रिम, मनमानी काट-छाँटा से भरे पाठों से छात्रों की मानसिकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। जिहाद, शरीयत आदि इस्लामी आग्रहों की दीक्षा पर सर्वाधिक बल देने के कारण एक अन्धविश्वासी मानसिकता ही बनेगी। जिसके साथ अंततः पाकिस्तान का बौद्धिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास बाधित होगा। यद्यपि ऐसी चर्चा करने वाले बहुत कम हैं, फिर भी यह स्वर पाकिस्तान में बना रहा है।

कनाडा में पिछले पाँच-छः वर्ष से राष्ट्रवादी और सामाजिक इतिहासकारों के बीच तीखी बहस चल रही है। अर्थात् लगभग उसी समय से जब स्वयं हमारे देश में इतिहास और पाठ्य-पुस्तक सम्बन्धी विवाद नए सिरे से आरम्भ हुआ। 1988 में कनाडा के प्रमुख इतिहासकार जैक ग्रानाटस्टाइन ने एक पुस्तक लिखी। शीर्षक था, ‘हू किल्ड कनाडियन हिस्ट्री?’। इसमें उन्होंने कहा कि सामाजिक इतिहासकारों अर्थात् सामाजिक विविधता (‘डाइवर्सिटी’) पर आवश्यकता से अधिक बल देने वालों (‘मल्टी-कल्चरिस्ट’) के पागलपन ने कनाडा के इतिहास को खत्म ही कर दिया है। इसका विभाजनकारी, वैमनस्यकारी असर इतना अधिक बढ़ गया है कि स्कूलों में शिक्षक इतिहास पढ़ाना ही नहीं चाहते। क्योंकि पता नहीं किस बात से कौन-सा वर्ग, समुदाय या समूह नाराज हो जाए। इस कारण एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई है। जैक ग्रनाटस्टाइन के शब्दों में कनाडा में पढ़ाया जाने वाला इतिहास वास्तव में “इतिहास कहलाने लायक नहीं है। यह तो बस इतिहास के पीड़ितों की राजनीतिक रूप से उपयुक्त (‘पोलिटिकिली करेक्ट’) जय-जयकार मात्र है। इस जिद में राष्ट्रनिर्माण के लिए आवश्यक विवरणों, घटनाओं, व्याख्याओं की बलि दे दी जाती है, जिनका पढ़ाया जाना देश में एक सुशिक्षित नागरिक समाज के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।” केन ऑस्बोर्न द्वारा *टीचिंग हिस्ट्री इन स्कूल्सः ए कनाडियन डिबेट,* 2001 में उद्धृत)। स्थिति यह है कि बहुत से कनाडियाई लोग यह भी नहीं जानते कि कनाडा का निर्माण कैसे हुआ था।

यद्यपि हमारे देश में इतिहास सम्बन्धी बहस कनाडा में चल रही बहस से काफी भिन्न है। फिर भी ग्रनाटस्टाइन की चिन्ता भारतीय लोगों को तुरत समझ में आ जाती है। जिस बात का दुःख कनाडा के इस मूर्धन्य इतिहासकार को है, उसी बात से यहाँ भी बहुत से विवेकशील लोग दशकों से चिन्तित हैं। इस बात से कि लंबे समय से देश के इतिहास-लेखन में विभिन्न समूहों, जातियों, धर्मावलंबियों, भाषा-भाषियों, वर्गों आदि के क्रिया-कलापों, जरूरतों, उनसे सम्बन्धित विषयों, उनके प्रति अथवा लिंग-भेद के प्रति हुई उपेक्षा या कथित उपेक्षा, अनदेखी व कथित अनदेखी आदि पर सही या गलत बहुत अधिक बल देने की प्रवृत्ति बन गई है। यहाँ तक कि लगता है मानो सम्पूर्ण देश, भारतीय समाज जैसी कोई चीज है ही नहीं! अलग-अलग हिस्सों, छोटे-छोटे समूहों या मनगढ़त समूहों (‘दलित’, ‘अल्पसंख्यक’) पर बल देने की जिद केवल वर्तमान घटनाक्रम पर ही नहीं, सुदूर अतीत में घटित घटनाओं पर ही लादी जा रही है, जब ऐसी किसी अवधारणा या निर्मिति का कोई अस्तित्व तक न था!

अंशों पर जोर देने की इस धुन में सम्पूर्ण कहीं खो गया है, उसकी किसी को कोई परवाह ही नहीं। मानो कोई ‘भारतीय जनगण’ या ‘भारतीय समाज’ जैसी हो ही नहीं। यहाँ यह प्रयास प्रगतिवाद, सेक्यूरिज्म या सबाल्टर्नवाद के नाम पर हो रहा है। ठीक इससे कुछ मिलता-जुलता प्रयास ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका या कनाडा में सांस्कृतिक विविधता (मल्टी-कल्चरिज्म) के नाम पर हो रहा है। हमारे भी कुछ रेडिकल विद्वान स्कूलों में सरल, सुबोध इतिहास पढ़ाने की बजाए बच्चों पर खण्डित और किसी विचारधारा विशेष का पोषण करने वाले जटिल पाठ का बोझ देना जरूरी समझते हैं। मानो हर तरह की नई विचारधारा, विश्लेषण राजनीतिक प्रवृत्तियों के आपसी संघर्ष का मैदान स्कूली पाठ्य-पुस्तकें ही हों। देश का या मानवता का कोई सामान्य स्वर भी है, यह मानना ऐसे रेडिकल विद्वानों को सिरे से अमान्य है। इसीलिए वे निरन्तर विभेद खोजते रहते हैं, गढ़ते भी रहते हैं। एकता बदले ‘डावर्सिटी’ उनका मूल मन्त्र है, जो अन्ततः सामाजिक, राजनीतिक विखण्डन, विद्वेष को उचित ठहराता है।

वस्तुतः जो विचार-विमर्श इतिहास की विद्वत-पत्रिकाओं के लिए कुछ हद तक उपयुक्त माना जा सकता है, उसे भोले-भाले स्कूली बच्चों पर थोपना पूरी तरह अनुचित है। कृत्रिम, असंगत, जटिल पाठ बच्चों के लिए अत्यन्त उबाऊ हो जाता है।, जिससे उन्हें इतिहास विषय में कोई रुचि नहीं रह जाती। वे पाठों को रटकर परीक्षा तो दे ले सकते हैं, किन्तु अपने ही देश के प्रति उनमें कोई लगाव नहीं पैदा होता, क्योंकि वास्तविक विरासत के बदले वैचारिक दुराग्रहों से गढ़ी हुई एक अबूझ ‘विरासत’ उन्हें थमाने का यत्न होता है। किन्तु क्या स्कूली शिक्षा का एक लक्ष्य यह भी नहीं है कि बच्चों में अपनी ऐतिहासिक विरासत के प्रति उत्सुकता, गौरव पैदा हो? यह हमारी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बात यह भी है कि यदि कोई पाठ्य-पुस्तक बच्चों में विषय के प्रति रुचि न जाग्रत कर सके तो उसकी गुणवत्ता संदेहास्पद ही है।

हमारे देश में पाठ्य-पुस्तकों, विशेषकर इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों पर बहस पहली बार नही हो रही। इससे पहले 1977-78 में भी काफी विवाद हुआ था। छिट-पुट बहस तो उससे पहले भी होती रही है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि छब्बीस-सताइस वर्ष बीत जाने पर भी विवाद के प्रसंग कुछ विशेष बदले नहीं हैं। जिन बातों पर पिछले पाँच-सात वर्षों से चर्चा हो रही है, मुख्यतः उसी पर दो-ढाई दशक पहले भी गर्मा-गर्मी हुई थी। इस बीच परिस्थितियाँ निस्सन्देह बदल गई

हैं। विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ। विश्व-पटल पर दो महाशक्तियों का शीत-युद्ध खत्म होकर विलीन हो चुका है। साथ ही दो विपरीत विचारधाराओं का विश्व-व्यापी संघर्ष भी अब कहीं नहीं। उस संघर्ष के अन्तिम परिणाम से सभी परिचित हैं। यह बदली हुई स्थिति है। अब अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर 'प्रगतिवादी' विचारधारा का उग्र प्रचार करने वाला सोवियत गुट उपस्थित नहीं है। उसके विश्व-पटल से लुप्त हो जाने से कुछ नई बातें भी हुई हैं।

उदाहरण के लिए, बाइस-चौबीस वर्ष पहले तक भारत के जो लेखक, इतिहासकार स्वयं को बड़े गर्व से मार्क्सवादी ('प्रगतिशील' और 'वैज्ञानिक' भी इसी के मनमाने पर्यायवाची थी) इतिहासकार कहते थे, अब उन्होंने अपने परिचय में यह कहना छोड़ दिया है। अब वही विद्वान अपने आप को 'सेक्यूलर' इतिहासकार कहना पसन्द करते हैं। यह वही लोग हैं जो न केलव स्वयं को मार्क्सवादी इतिहासकार कहते थे, बल्कि इतिहास-लेखन सम्बन्धी बहस में मुख्य मतभेद भी विभिन्न मार्क्सवादी पक्षों के बीच ही माना करते थे। मानो इस से भिन्न किसी वैचारिक दुनिया का अस्तित्व ही न हो! अब यदि आज उन्होंने अपना पुराना परिचय या विशेषण छोड़ दिया है, तो इसका कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों का मूलतः परिवर्तित हो जाना ही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस परिवर्तन ने इतिहास-पुस्तकों की बहस की शब्दावली और पद्धति में भी थोड़ा परिवर्तन किया है।

वर्ष 2002-03 के बीच एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गई नई इतिहास पुस्तकों के कथ्य पर उतनी परेशानी नहीं जताई गई जितनी इस बात पर कि पाठ्य-पुस्तकों का लेखक *किसे* होना चाहिए, या किसे होने का नैसर्गिक अधिकार है। दिसम्बर 2003 में हुए भारतीय इतिहास कांग्रेस के 64वें अधिवेशन में भी यही चर्चा हुई। वहाँ यह भी कहा गया है कि यह संस्था अपनी तरफ से वैकल्पिक पाठ्य-पुस्तकें तैयार करेगी। यह घोषणा अपने-आप में कुछ विचित्र थी। इस देश में हमेशा पाठ्य-पुस्तकों की विविधता रही है। ऐसा नहीं कि देश भर के सभी स्कूलों में एन. सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें ही पढ़ाई जाती हैं। शुरू से ही विभिन्न राज्यों के शिक्षा बोर्ड द्वारा निजी प्रकाशकों द्वारा सरकारी और गैर-सरकारी स्कूलों के लिए अनेक प्रकार की पुस्तकें तैयार या स्वीकृत की जाती रही हैं। यदि एक और संस्था कुछ और पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार करे तो इसमें कुछ खास नई बात नहीं होगी। फिर भी इतिहास कांग्रेस ने इसे इस तरह प्रस्तुत किया मानो वह किसी एकदम नई चीज की शुरुआत करने वाली हो। वस्तुतः इस प्रसंग की समीक्षा पिछले पाँच-सात वर्ष से चल रहे विवाद के संदर्भ में रखकर करें, तो वास्तविक आशय स्पष्ट होता है। घुमा-फिराकर वही बात फिर कही गई कि इतिहास की पाठ्य-पुसतकें लिखने का एकाधिकार केवल कुछ सुनिश्चित 'एमिनेण्ट' इतिहासकारों का ही है। इनके अलावा जिन्होंने भी पुस्तकें लिखीं वे अनाधिकार चेष्टा कर रहे हैं। किन्तु यह दावा एन.सी.ई.आर.टी. की कुछ इतिहास पुस्तकों में त्रुटियाँ दिखाने के लिए भारतीय इतिहास कांग्रेस द्वारा एक 'इण्डेक्स ऑफ एरर्स' (2003) के प्रकाशित होने और उसके प्रत्युत्तर में एन.सी.ई.आर. टी. द्वारा 'फलासीज इन द आई.एच.सी. रिपोर्ट' (2003) प्रकाशिता होने के बाद किया गया। यह तनिक हैरत की बात थी। क्योंकि दोनों का तुलनात्मक अवलोकन स्पष्ट करता है कि वास्तव में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा नई प्रकाशित पुस्तकों में काई बहुत बड़ी त्रुटियाँ नहीं थीं। उलटे उनमें दोष दिखाने वाले इतिहासकार ही अपने वैचारिक, राजनैतिक पूर्वाग्रह के शिकार दिखते थे। अपने विचारों, निष्कर्षों पर अन्धविश्वास के कारण उन्होंने एन.सी.ई.आर.टी. की उन पुस्तकों की जाँच करने में अपना होम-वर्क तक ठीक से नहीं किया। यही कारण था कि 'इण्डेक्स ऑफ एरर्स' तैयार करने वाले इतिहासकारों ने 'फलासीज इन द आई.एच.सी. रिपोर्ट' के बाद एन.सी.ई.आर.टी. को कोई उत्तर नहीं दिया। निष्पक्ष अवलोकनकर्ताओं ने समझ लिया कि 'एमिनेण्ट' इतिहासकारों ने जल्दबाजी में बड़ी भूल की है।

इस प्रकरण के बाद भी भारतीय कांग्रेस द्वारा अपनी ओर से वैकल्पिक पाठ्य-पुस्तकें लिखवाने की घोषणा (वस्तुतः लिखे जाने का कोई समाचार अभी तक नहीं आया है) ने यही दिखाया कि मामला पुस्तकों के कथ्य का उतना नहीं, जितना उन्हें लिखने के अधिकार पर दावे का है। कुछ गिने-चुने 'एमिनेण्ट', 'सेक्यूलर' कुर्शी-नर्शी इतिहासकारों ने मान लिया है कि इतिहास केवल वही लिख सकते हैं, और कोई नहीं। इसका मूल कारण यह है कि उनकी राय में इतिहास को देखने का उनका दृष्टिकोण ही एक मात्र उपयुक्त दृष्टिकोण है। उससे भिन्न जो कुछ लिखा गया, या लिखा जा रहा है वह दकियानूसी, अन्धविश्वासपूर्ण, अन्धराष्ट्रवादी, साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी लेखन है।

एक अर्थ में भारत में शैक्षिक पाठ्य-चर्या में परिवर्तन, पाठ्य-पुस्तकों तथा विशेषकर इतिहास-लेखन की यह पुरानी बहस रूस में हाल के वर्षों में हुई बहस से कुछ अंशों में मिलती-जुलती है। 1991 में वहाँ कम्यूनिस्ट शासन की समाप्ति के बाद स्कूली पाठ्य-चर्या और सम्पूर्ण शिक्षा में बड़े भारी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गई। विशेषकर समाजिक विज्ञान और मानविकी विषयों में आमूल-चूल परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक समझा गया। परिवर्तन की आवश्यकता पर रूसी समाज में कोई मतभेद न थायह ध्यान दिए जाने की बात है। 1992 में वहाँ एक नया कानून बना जिसमें शिक्षा के मानवीय पक्ष सामाजिक मूल्यों का महत्त्व, सबके विकास की आजादी, आदि पर नए सिरे से ध्यान दिया गया। एक दूसरे दस्तावेज में माध्यमिक स्कूलों के लिए बुनियादी पाठ्य-चर्या परिवर्तन की दिशा तय की गई। इस पाठ्य-चर्या को अगले पाँच साल में लागू करने का लक्ष्य रखा गया। सोवियत युग में शिक्षा से जुड़े लोगों के मस्तिष्क पर एक कट्टरपन्थी मार्क्सवादी-लेनिनवादी वैचारिक दुराग्रह था जिसने सामाजिक विज्ञान और मानविकी विषयों में हर स्थान पर एक रटे-रटाए,

निर्जीव, निरर्थक पैकेज या कैप्सूल का रूप ले लिया था। रूसियों को उस वैचारिक दासता से मुक्त होने में आज भी मशक्कत करनी पड़ रही है। दशकों से बनी आदत रूस में एक मानसिकता का रूप ले चुकी थी, जिससे पूरी तरह उबरने के लिए वस्तुतः एक नई पीढ़ी को तैयार होना पड़ेगा।

1997 में रूसी सरकार ने शिक्षा और पाठ्य-चर्या में सुधार के लिए एक विशेष आयोग बनाया। इसने हालात का जायजा लेने, सूचनाएँ एकत्र करने और जानकारों की राय लेने के लिए देश भर में विस्तृत सेमिनार आयोजित किए। इसने अपनी रिपोर्ट में सबसे अधिक स्थान पाठ्य-चर्या पर दिया। इसने स्कूलों से आग्रह किया कि वह पहले शिक्षा के प्रति 'वैज्ञानिक' नजरिए से पूरी तरह छुटकारा ले। अर्थात् वह नजरिया जिसे मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने सोवियत संघ में अपने शासन-काल के सत्तर सालों में स्थापित किया था। उसने स्कूलों से अध्ययन के घंटे कम करने, पढ़ाने की पद्धति में बदलाव करने पर भी जोर दिया। नई पाठ्य-चर्या में 'समाज के आध्यात्मिक पुनर्जागरण की जरूरत' पर भी जोर दिया गया। संक्षेप में, आज रूस (और पूर्वी यूरोप के सभी देशों में जहाँ पहले कम्यूनिस्ट राज था) में घिसी-पिटी मार्क्सवादी, 'प्रगतिशील', 'सेक्यूलर' आदि कृत्रिम अवधारणाओं और जड़-सूत्रों को पूरी तरह हटाकर राष्ट्रीय, मुक्त और यथार्थपरक दृष्टिकोण का विकास किया जा रहा है। राष्ट्रीय पहचान, सहभागी लोकतन्त्र, सक्रिय नागरिकता और देशभक्ति, इन चार नए मूल्यों पर रूस की नई शिक्षा प्रणाली को ढालने का यत्न हो रहा है।

आज रूस में सामाजिक विज्ञान और मानविकी सम्बन्धी सोवियत कालीन तमाम पुस्तकों को पूर्णतः कचरे में *डाला जा चुका* है। स्वयं वयोवृद्ध रूसी विद्वान स्पष्ट मानते हैं कि दुनिया के किसी देश में इतिहास का इतने बड़े पैमाने पर मिथ्याकरण नहीं किया गया जितना सोवियत संघ में। सोवियत युग में लिखी गई इतिहास की पुस्तकें असंख्य खाली स्थानों, अतिरंजनाओं, विकृतियों और तरह-तरह के झूठ से भरी हुई थीं। राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों की पुस्तकें भी इन्हीं त्रुटियों से ग्रस्त थीं। अतः आज वहाँ न केवल स्कूली पाठ्य-पुस्तकें बल्कि कॉलेज, विश्वविद्यालयों के लिए भी नए सिरे से इतिहास, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, साहित्य, दर्शन आदि की पुस्तकें लिखी जा रही हैं। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुरूप 'वर्ग-संघर्ष', अन्तर्राष्ट्रीयतावाद' जैसी अवधारणाओं पर आधारित 'वैज्ञानिक', 'सर्वहारा' दृष्टिकोण के स्थान पर अब रूसी और पूर्व यूरोपीय लोग राष्ट्रीय व यथार्थपरक दृष्टि से इतिहास और वर्तमान को देख रहे हैं। रूसी इतिहास के बहुत से महापुरुषों का फिर से उद्धार कर उन्हें उचित स्थान दिया जा रहा है, जिन्हें पहले 'प्रतिक्रियावादी', 'शोषक' आदि कहकर सरसरी तौर पर निन्दित किया जाता था या जिनका कहीं उल्लेख तक न होता था। अब इतिहास की घटनाओं, महापुरुषों आदि के प्रति एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है।

ऐसे में यह कितना अन्धविश्वासपूर्ण है कि भारत में मार्क्सवादी लेखकगण उसी सोवियत मानसिकता, रूसी 'क्रान्ति' या लेनिन की जय-जयकार आदि को समाजिक विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों में जारी रखना चाह रहे हैं। हमारे मार्क्सवादी अक्तूबर 1917 में रूस में हुए राजनीतिक परिवर्तन को आज भी 'समाजवादी क्रान्ति' कहने की जिद करते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. की एक पाठ्य-पुस्तक में उस घटना के तख्ता-पलट (coup) कहे जाने पर भारी एतराज जताया गया। जबकि स्वयं रूसी पाठ्य-पुस्तकों में आज उसे षड्यन्त्र-पूर्वक किया गया जबरन तख्ता-पलट (putch) कहा जा रहा है। लेनिन द्वारा 1917 में सत्ता पर कब्जा किए जाने को रूसी विश्लेषक विशुद्ध रूप से सांयोगिक घटना मानते हैं जो कतई अनिवार्य न थी, क्योंकि वह किसी जनविद्रोह नहीं बल्कि मात्र तीन-चार व्यक्तियों के षड्यन्त्र से आरम्भ हुआ। वह षड्यन्त्र, अन्ततः, इसलिए सफल हो गया क्योंकि उस समय रूसी सरकार बड़ी ढीली-ढाली और अनिश्चित दौर से गुजर रही थी। लेनिन को कोई समर्थन न था, यहाँ तक कि अपने निकटतम सहयोगियों का भी नहीं। वह तो दुर्योगवश मात्र मौके का लाभ उठा ले पाने में सफल हुए थे। इसीलिए अक्तूबर 1917 की घटना को क्रान्ति कहने की बजाए रूसी लोग आज से उसे प्रतिक्रान्ति कहते हैं। जिसने रूस को अतुलनीय हानि पहुँचाई और उसके सहज विकास को कई दशक पीछे कर दिया। सत्ता में बने रहने और चमत्कारिक प्रगति के लिए अपने ही करोड़ों लोगों को मार डाला गया, वह अलग। अतः आज रूस में दसवीं कक्षा की एक पाठ्य-पुस्तक 'विश्व इतिहास और पितृ-भूमि का इतिहास' में इस तरह के पाठ दिए गए हैं : "अक्तूबर 1917क्रान्ति या प्रतिक्रान्ति", "सोवियतें-लोकसत्ता या सर्वाधिकारवाद?" आदि।

रूस में दसवीं-ग्यारहवीं कक्षा के लिए तैयार की गई इतिहास की पुस्तक की एक पाठ्य-पुस्तक 'बीसवीं सदी में रूस' (2001) में छात्रों से एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कहीं गइ है। यह बात उन सभी देशों के छात्रों से कही जा सकती है। जहाँ इतिहास और समाज विज्ञान सम्बन्धी तथ्यों पर वाद-विवाद होता रहा है : *तुम्हें समान तथ्यों, घटनाओं और परिधटनाओं के बारे में विपरीत विचारों का सामना करने का अवसर मिलेगा। हमें आशा है कि पाठ्य-पुस्तकों के लेखकों और दूसरे इतिहासकारों की बातों से सहमत या असहमत होते हुए अंततः तुम स्वयं अपना विचार बनाने की कोशिश करोगे।"* भारत में जिस तरह से कई वर्षों से इतिहास और सामाजिक विज्ञान विषयों के कुछ विशेष प्रसुंगों पर बहस-मुबाहसा होता रहा है, उमसें आशा की जा सकती है कि उनमें रुचि रखने वाले सभी लोग तमाम तथ्यों, तर्क-वितर्क और प्रस्थापनाओं पर सम्यक विचार करके स्वयं तय करेंगे कि कौन-सा पक्ष सत्य के अधिक निकट है।

यह नितान्त आवश्यक है कि इतिहास, साहित्य या अन्य सामाजिक विज्ञान सम्बन्धी विषयों को तथाकथित विशेषज्ञों के चंगुल से छुटकारा दिलाया जाए। भारतीय परम्परा में 'इतिहास' का अर्थ वैसे भी पश्चिम की 'हिस्टरी' से मूलतः भिन्न

है। जबकि यहाँ हमारे तथाकथित ‘इतिहास विशेषज्ञों ने इतिहास को हिस्टरीकृत कर डाला है। इसीलिए भारत की अपनी इतिहास-दृष्टि का कोई संकेत भी हमारे रेडिकल, एमिनेण्ट इतिहासकारों के लेखन में नहीं मिलता। वह केलव इस या उस पश्चिमी अवधारणा के खाके में भारतीय परम्परा के तथ्यों, आग्रहों, विशेषताओं को मात्र ‘फिट’ करते रहते हैं।

यहाँ हमने अपने देश में हुई बहस और उसके अनुभवों पर विचार करने की एक और पृष्ठभूमि से पाठकों को परिचित कराने का यत्न किया है। यह पृष्ठभूमि हमें भारत में हो रही चर्चा का समुचित मूल्यांकन करने में सहयोग देगी। जो भारत में हो रहा है, वह कोई अनोखी बात नहीं। शिक्षा और पाठ्य-पुस्तकों को बदलते समय उसे समय के अनुकूल और गतिशील बनाए रखने की चिन्ता हर अग्रगण्य देश में की जाती है। यही नहीं, परिवर्तन की चर्चा प्रत्येक खुले देश में विवाद को जन्म देती ही है। यही खुले समाजों की विशषता है। हम जानते ही हैं कि विभिन्न विचारों के आपसी संघर्ष से अन्ततः लाभ होता है : *वादे-वादे जायते तत्व-बोधः।* सभी पक्ष को अपनी त्रुटियों और दूसरे पक्ष की विचारणीय बातों को समझने का अवसर मिलता है।

खुले समाज में विचारों की खुली अभिव्यक्ति का अवसर ही सामाजिक विज्ञान विषयों पर तीव्र बहस को सम्भव बनाता है। ऐसी बहस किसी भी तानाशाही, कम्युनिस्ट या इस्लामी शासन व्यवस्थाओं में कभी नहीं देखी जाती। इतिहास सम्बन्धी प्रसंगों पर सबसे अधिक तीखा विवाद और दुराव-छिपाव भी होता है। कारण यह कि इतिहास के प्रति कोई विशेष दृष्टिकोण वर्तमान के प्रति भिन्न राजनीतिक दृष्टियों से भी अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। इसीलिए विभिन्न राजनीतिक समूह अपने-अपने तरीके से उन प्रसंगों पर उदार या संकीर्ण रवैया अपनाते चलते हैं। अन्य देशों में इतिहास चर्चा पर दृष्टि डालने से हमें यह भी पता चलता है कि जब तक विश्व समाज में राष्ट्र-राज्य विभाजन बना हुआ है, तब तक राष्ट्रीय भावनाओं से ऊपर उठने या उसे नकारने के प्रयास में कोई समझदारी नहीं है। आखिर क्यों अनेक देशों में इतिहास, राष्ट्रवाद, परम्परा, आत्म-गौरव और लोकतन्त्र का अन्तःसम्बन्ध पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण मेंऔर उस पर होने वाली बहस में भीमहत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है?
यदि हम इसके पीछे की भावना को ठीक-ठीक नहीं समझते तो भारत में पिछले वर्षों में इतिहास लेखन, शिक्षा और पाठ्य-पुस्तकों पर हुए तीखे विचार-विमर्श को अपने सही परिप्रेक्ष्य में समझने में भी सफल नहीं होंगे।

पुलिस पर राजनीतिक और नौकरशाही के नियंत्रण के मुद्दे

डी. सी. नाथ*

जिस प्रकार अब अल कायदा समूह से संयुक्त राज्य अमेरिका को खतरा होने या न होने को लेकर बहस नहीं होती बल्कि इस बात को लेकर होती है कि यह किस समय सामने आएगा, उसी प्रकार भारत में पुलिस पर राजनीतिक और नौकरशाही के नियंत्रण के परिप्रेक्ष्य में बहस का प्रश्न यह नहीं है कि यह अच्छा या वांछित है अथवा नहीं बल्कि ये है कि यह कितना व्यापक अथवा सीमित है। दूसरे शब्दों में पुलिस पर राजनीतिक और नौकरशाही का नियंत्रण एक प्रशासनिक सच्चाई है, भारतीय प्रशासन-तंत्र में एक सहज स्वीकृत तथ्य। इससे जुड़े कुछ सवाल ये हो सकते हैं

✧ इस नियंत्रण की जरूरत क्यों है?
✧ क्या इसकी जरूरत है भी?
✧ किस प्रकार के नियंत्रण की परिकल्पना की गई है?
✧ कानून में क्या स्थिति है?
✧ वास्तविक स्थिति क्या है?

दरअसल, भारत में राजनेताओं और नौकरशाहों दोनों वर्गों में पुलिस पर नियंत्रण रखने की अगर लालसा नहीं तो लगभग सनक जैसा भाव है। अतः इसका आकलन इस प्रकार किया गया है, “इस क्षेत्र में नौकरशाहों और राजनीतिक आकाओं के बीच नापाक गठजोड़ अपने शबाब पर है।”[1] इस संयुक्त उपक्रम का क्या कारण हो सकता है? पुलिस के पास ऐसा क्या है या पुलिस ऐसा क्या दे सकती है कि इसके ऊपर नियंत्रण प्राप्त करना इतना जरूरी माना जाता है? इसे प्रो. डेविड एच. बैले ने अच्छी तरह समझाया है जिन्होंने भारत में पुलिस व्यवस्था का काफी गहन अध्ययन किया है। “यह मानने के अनेक कारण हैं कि राजनीतिक जीवन में पुलिस काफी

---

*श्री डी. सी. नाथ, आई. पी. एस. (सेवानिवृत्त), पूर्व विशेष निदेशक इंटेलीजेंस ब्यूरो (भारत सरकार) इस समय International Institute of Security and Safety Management, New Delhi, India के कार्यकारी अध्यक्ष और मुख्य कार्यपालक अधिकारी (CEO) हैं।

प्रभाव डाल सकती है, कम-से-कम अन्य एजेन्सियों की तुलना में। पहला, उन्हें पूरी तरह से और व्यापक रूप से देखा जा सकता है क्योंकि वे वर्दी में होते हैं, उनकी गतिविधियाँ छिपाए नहीं छिपतीं। चूँकि उनकी जिम्मेदारी के दायरे में हर प्रकार की सामाजिक गतिविधियाँ आती हैं, वे हरेक के सम्पर्क में आते हैं। दूसरा, बल के साधनों पर पुलिस का करीब-करीब एकाधिकार है। वे समाज के नियंता होते हैं। इससे उनके आस-पास आशंका, चिन्ता, भय का माहौल बन जाता है। उन्हें एक प्रकार के भावनात्मक महत्त्व से जोड़ दिया जाता है जो सरकार के अन्य अंगों से नहीं जुड़ पाता। तीसरा, मानव जीवन के सबसे बुनियादी तत्त्वों की सुरक्षा की जिम्मेदारी उन्हीं की होती है। इसके अलावा तनाव और परेशानी के क्षणों में वे लोगों की जिन्दगियों में दखल देते हैं। चौथा, पुलिस को तत्काल कानून से जोड़ा जाता है, वे इसकी रूपरेखा तय करते हैं और तय करते हैं कि कब इसका प्रयोग करना है, शासन लोगों का है या कानून का, यह काफी हद तक पुलिस के स्वरूप पर निर्भर करता है।”[2] इसलिए इसमें कोई अजूबा नहीं है कि राजनीतिक व्यवस्था में निहित स्वार्थी तत्त्व आपस में गठजोड़ कर लेते हैं और पुलिस के कार्य के क्रियात्मक स्वरूप का दोहन करते हैं।

इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि भारतीय पुलिस शासकों द्वारा नियुक्त पुलिस बनी हुई है और आजादी के इतने वर्षों बाद भी जनता की पुलिस नहीं बन पाई है। कदाचित पंडित जवाहरलाल नेहरू और गोविन्द वल्लभ पंत जैसे आदर्शवादी राजनेताओं के लिए यह तथ्य निराशाजनक रहा होगा। पुलिस पर राजनीतिक और नौकरशाही पर नियंत्रण वस्तुतः हमारी प्रशासनिक व्यवस्था की अन्तर्निहित विशेषता है और यह सभी सम्बन्धित लोगों के लिए अनुकूल है, शायद आम जनता को और सरकार की सेवा-अभिमुख एजेन्सी होने के लिए पुलिस सुधारों और पुलिस के आधुनिकीकरण के उद्देश्य को छोड़कर। राजनेताओं के लिए किसी निश्चित या निर्धारित दिशा-निर्देश या आचारसंहिता के अभाव में (अब चुनाव आयोग इस दिशा में कुछ प्रयास कर रहा है), देश का सामना न सिर्फ “राजनीति के अपराधीकरण” से है, बल्कि “अपराध के राजनीतिकरण” की प्रक्रिया भी उफान पर है। राष्ट्रीय पुलिस आयोग रिपोर्ट (1977-1981) समेत पुलिस आयोग की सभी रिपोर्टों में बताया गया है कि आज भी पुलिस की कार्यप्रणाली को नियंत्रित करनेवाले 1861 के पुलिस अधिनियम को बनाने का उद्देश्य एक ऐसे पुलिस बल का गठन था जो कार्यपालिका के अधीन हो। जैसा कि कहा गया है, वस्तुतः 1860 के पुलिस आयोग ने, जिसके परिणामस्वरूप 1861 का पुलिस अधिनियम अस्तित्व में आया, बिलकुल स्पष्ट कर दिया था कि उनका प्रस्ताव एक ऐसी पुलिस प्रणाली के गठन का है जो “राजनीतिक दृष्टि से अधिक उपयोगी”[3] होगी। इस प्रकार पुलिस पर नियंत्रण रखना विधिसम्मत है। कहा जा सकता है कि यह नौकरशाहों और राजनेताओं दोनों का मौलिक अधिकार है जैसा कि एक शताब्दी पूर्व बने और आज भी बिना किसी परिवर्तन के चल रहे

हमारे देश के कानूनों में प्रतिष्ठापित है। जैसा कि राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने उद्धृत किया है, 1860 के भारतीय पुलिस आयोग ने कहा था, “हमने इस बल की व्यवस्था की है जो हर प्रकार से नागरिक कार्यपालिका सरकार के अधीन है,” जिसे भारत के लिए ‘अच्छी पुलिस’ का लक्षण माना गया था। यह टिप्पणी, जो देश का कानून बन गई थी, आज 21वीं शताब्दी में भी अपनी जगह पर कायम है। वास्तविक स्थिति यह है कि सरकार (नौकरशाह और राजनेता) 1861 के पुलिस अधिनियम की धारा 3 के आधार पर पुलिस पर सम्पूर्ण नियंत्रण रखती है जिसमें कहा गया है कि, “एक पूरे सामान्य पुलिस जनपद में पुलिस का अधीक्षण उस राज्य सरकार में निहित होगा और उसी के द्वारा इसका प्रयोग किया जाएगा जिसके अधीन ऐसा जनपद आता हो।”

नागरिक कार्यपालिका के समक्ष पुलिस की यह अधीनता अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बित होती है। एक सामान्य उदाहरण वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट लिखने की पद्धति का है। हमारी प्रशासन प्रणाली में वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट लेखन निश्चित तौर पर नियंत्रण रखने का सुनिश्चित तरीका है। राज्यों में और केन्द्र सरकार में भी, पुलिस प्रमुखों का अन्तिम मूल्यांकन नागरिक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है, चाहे उक्त प्राधिकारी सम्बन्धित अधिकारी के कार्य और फील्ड में उसके वास्तविक योगदान से परिचित हो अथवा नहीं। अधिकांश राज्यों में जिला पुलिस अधीक्षकों की वार्षिक गोपनीय रिपोर्टें जिलाधिकारियों द्वारा लिखा जाना जारी है जो कि वस्तुतः नियंत्रण बनाए रखने का काफी प्रभावी तरीका या उपाय है। लेकिन कुछ ‘समझदार’ पुलिस अधिकारियों को प्रायः यह प्रणाली सुविधाजनक लगती है क्योंकि वे जिलाधिकारी को आसानी से खुश कर सकते हैं और इस प्रकार वस्तुतः अपने विभागीय वरिष्ठ अधिकारियों की अनदेखी करते हैं। यह एक ऐसी स्थिति है जो किसी अनुशासित सेवा के लिए शुभ लक्षण नहीं है। दरअसल 1861 के पुलिस अधिनियम में पुलिस अधिकारियों के बीच अनुशासहीनता पनपने की काफी गुंजाइश है क्योंकि इस नियम के अन्तर्गत, जनपद में कानून और व्यवस्था समेत प्रत्येक स्थिति की जिम्मेदारी कानूनन नागरिक प्राधिकारी अर्थात् जिलाधिकारी की होती है। प्रशासन की इस पद्धति के बेतुकेपन को लेकर बहुत कुछ लिखा और कहा जा चुका है लेकिन अब तक कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

आजकल लगभग हर स्तर पर पुलिस अधिकारियों के स्थानांतरण और उनकी तैनाती की पद्धति पुलिस पर राजनीतिक-नौकरशाही के नियंत्रण बनाए रखने का एक दूसरा सुनिश्चित तरीका है। यह मालिक और नौकर दोनों के अनुकूल है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सभी पुलिसवाले सन्त हैं और राजनीतिक या नौकरशाही के हस्तक्षेप के शिकार हैं। लगभग सभी राज्यों में यह स्थिति आ गई है कि उप-निरीक्षक जैसे कनिष्ठ अधिकारी बाहरी प्रभाव का जुगाड़ करके अपनी मनपसन्द तैनाती पा सकते हैं। वे दिन लद गए जब जिले का पुलिस अधीक्षक अपने जिले में

पुलिसवालों को अपनी पसन्द या विवेक के अनुसार तैनात करने के विशेषाधिकार का दम भर सकता था। यही स्थिति जिलों में पुलिस अधीक्षकों की तैनाती के मामले में भी है। माना जाता है कि पुलिस के महानिदेशकों को पुलिस अधीक्षकों की तैनाती के अपने प्रस्ताव को अपने राजनीतिक नेतृत्व से स्वीकृत कराना पड़ता है। पुलिस महानिदेशकों की खुद की तैनाती सक्षमता और वरिष्ठता के अनुसार होती हो, ऐसा दावा वे नहीं कर सकते। पुलिस महानिदेशक की एक निश्चित अवधि के लिए तैनाती के मुद्दे पर विचार किया जा चुका है और राष्ट्रीय पुलिस आयोग की सिफारिश धूल चाट रही है। यह स्थिति तब है जबकि पुलिस अधिकारियों द्वारा इस मुद्दे पर उच्चतम न्यायालय में रिट याचिका दायर करने सहित काफी आन्दोलन किए जा चुके हैं। इस रिट याचिका (310/96) में उच्चतम न्यायालय से राष्ट्रीय पुलिस आयोग की सिफारिशों को लागू कराने के लिए सरकार को आदेश देने का अनुरोध किया गया है। इन सिफारिशों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्यों के पुलिस प्रमुखों का चयन एक राज्य सुरक्षा आयोग द्वारा और कम-से-कम दो वर्ष की निर्धारित अवधि के लिए किया जाए। 1998 में एक नई समिति (रिबेरो समिति) का गठन किया गया लेकिन मामला वहीं का वहीं लटका पड़ा है। इस बात को लेकर सवाल उठाए जाते हैं कि देश की सर्वोच्च अदालत किसी प्रकार अपनी उन सिफारिशों को लागू कराने की कोशिश नहीं कर सकती, जो निश्चित तौर पर राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में हैं।

यहीं पुलिस पर नियंत्रण का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू सामने आता है। जहाँ तक हमारे देश की आपराधिक न्याय प्रणाली का नागरिक प्रशासन से सम्बन्ध है, भारत में पुलिस पर न्यायिक नियंत्रण उल्लेखनीय है। यहाँ भी हमने लार्ड मैकाले को उस बात में पीछे छोड़ दिया है जो उसने 'देशी' भारतीयों के लिए निर्धारित की थी। भारतीय पुलिस, जो शासक-वर्ग द्वारा नियुक्त थी, और आज भी है, का उद्देश्य कानून का शासन स्थापित करना है। यह अवधारणा हमारे न्यायिक दृष्टिकोण में सर्वोच्च है और अपेक्षा की जाती है कि यही हमारा मार्गदर्शन करे, लेकिन पुलिस अधिकारी कानून के अधिकारी नहीं हैं और यह अवधारणा उन सभी के विचारों से मेल नहीं खाती जो महत्त्वपूर्ण स्थानों पर बैठे हैं। हालाँकि तुलना करना प्रायः अच्छा नहीं माना जाता, पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि पुलिस पर नियंत्रण के सम्बन्ध में बहुचर्चित रायल कमीशन ऑफ ग्रेट ब्रिटेन (1960-62) ने जोर देकर कहा था कि पुलिस को सिर्फ कानून और न्यायपालिका के प्रति जिम्मेदार रहना चाहिए और उनके विधिक कर्तव्यों के निष्पादन में राजनीतिक दबाव के चलते कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यू.एस.ए. के प्रेसिडेण्ट्स क्राइम कमीशन ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए थे। लेकिन भारत में यह स्थिति है नहीं। इसके कारण कहीं और तलाशने होंगे। परीक्षणात्मक (Inquisitional) पद्धति के विपरीत, जिसमें न्यायपालिका को सत्य का अन्वेषण करने की जिम्मेदारी दी जाती है, भारत में प्रचलित अभियोजकीय (Accusatorial) पद्धति में न्यायपालिका का पूरा जोर और ध्यान सत्य पर नहीं बल्कि साक्ष्य पर होता है। इसी प्रकार वह प्रसिद्ध मामला सामने आया था जिसमें न्यायाधीश ने खेद व्यक्त किया कि उसे पता है कि आरोपित दोषी है लेकिन वह सत्य के साथ नहीं खड़ा हो सकता क्योंकि पर्याप्त मात्रा में सहायक या वैध साक्ष्य नहीं हैं। यहाँ एक प्रख्यात सामाजिक-राजनीतिक चिन्तक की बात ध्यान देने योग्य है। "पुलिस के बारे में यह अवधारणा कि यह 'कानून का हाथ पैर' है और 'कानून के शासन' के प्रति समर्पित है', इस अपेक्षा को जन्म देती है कि सरकार के इस कार्यपालक अंग को राजनीति से पृथक् किया जाए। इसके विपरीत, पुलिस संगठन को इसके खुद के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि पुलिस के कार्य में राजनीतिक दिशा-निर्देश और विवेकपूर्ण व्याख्याओं की जरूरत पड़ती है, जिसे कुल मिलाकर देश की न्यायपालिका के अधीन होना चाहिए।"[4]

कानून का अविश्वास या कहने के लिए पुलिस पर कानून का नियंत्रण ऐतिहासिक है। पुलिस के समक्ष की गई आत्म-स्वीकृतियाँ स्वीकार्य नहीं हैं और पुलिस द्वारा रिकार्ड किए गए बयान ऐसे साक्ष्य नहीं होते जिन पर विद्वान न्यायालय भरोसा कर सकें। फिर पुलिस को अछूत बनाने और उन पर पूरा शिकंजा कसने के लिए और बचता ही क्या है? राजनीतिक आकाओं के हाथ की कठपुतली, हतोत्साहित और प्रशासनिक रूप से विभाग के बाहर से नियंत्रित, पुलिस वर्ग उसी विधिक ढाँचे में अछूत होता है जिसकी रक्षा उससे अपेक्षित होती है।

समस्या का एक पहलू और भी हैपुलिस पर सामाजिक-राजनीतिक नियंत्रण का। समाज में थोड़ी भी हैसियत रखनेवाला हर आदमी पुलिस को अपने चंगुल में कर लेने को बेचैन रहता है और राजनेता तो आम आदमी से निश्चित तौर पर कुछ ज्यादा ही ऐसा होता है। इसके अलावा, जैसी भी स्थिति हो, वह राज्य विधानसभा या संसद या पंचायत के प्रति भी जवाबदेह होता है। इसलिए ऐसे राजनेताओं द्वारा पुलिस पर कुछ हद तक नियंत्रण या उनका प्रयोग आमतौर पर जनता द्वारा स्वीकार कर लिया गया है। इसलिए कहा जाता है कि सरकार के सेवा के अंग के रूप में पुलिस को अपने समय की राजनीति से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए एक 'अराजनीतिक पुलिस' या 'घटनाक्रम से उदासीन पुलिस' के विचार को खयाली पुलाव माना जाता है, खासकर हमारी लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में। "सामाजिक न्याय के साथ विकास" के लिए लोकतांत्रिक योजना की जरूरत होती है, लेकिन इसकी कीमत यह होती है कि सामाजिक असंगठन और अनिवार्यतः उत्पन्न अव्यवस्था पुलिस को भारत के राजनीतिक विकास के केन्द्र में ला खड़ी करती है। कानून और व्यवस्था तथा अपराध, बुराई और अव्यवस्था की घटनाओं से निपटने वाली एक एजेन्सी के रूप में भारत में पुलिस को नियामक प्रशासन का एक अंग माना जाता है, जिसका परिवर्तन या विकास के प्रशासन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। पुलिस की भूमिका और

कार्यप्रणाली को लेकर बाबा आदम के जमाने का यह दृष्टिकोण भारतीय प्रशासन की एक खंडित तस्वीर पेश करता है जो एक विकासशील समाज में संरक्षण और परिवर्तन की अवधारणाओं की धुरी है। शोध से पता चलता है कि “विकासात्मक गतिविधियों का शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र हो जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुलिस प्रशासन के दायरे में अथवा प्रभाव में न आता हो।”[5] इसलिए ऐसी एजेन्सी पर अगर अन्तिम रूप से नहीं भी, तो पूरा-पूरा नियंत्रण क्यों न हो!

यह सब लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली के लिए अथवा उसके नाम पर होता है जिससे कि पुलिस राज्य में पतन के बदले कल्याणकारी राज्य की स्थिति प्राप्त की जा सके। दिलचस्प बात तो यह है कि यह बात 1860 के पुलिस आयोग के अनुरूप प्रतीत होती है। जैसा कि दिल्ली पुलिस आयोग रिपोर्ट (1966-68) में कहा गया है, “आयुक्तों ने यह महसूस नहीं किया कि एक सम्मानजनक और ऊर्जावान पुलिस प्रशासन की नींव नहीं डाली जा सकती अगर हम इस गलत धारणा को मानें कि चूँकि हम कानून का पालन करानेवाली पुलिस नहीं प्राप्त कर सकते तो कम-से-कम उन्हें सौंपी गई सत्ता के दुरुपयोग करने की उनकी क्षमता को कमजोर तो कर ही सकते हैं (ब्रूस-स्मिथ)।”[6] दिल्ली पुलिस आयोग की रिपोर्ट में 1960 में जो कुछ कहा गया है, वह 21वीं शताब्दी के पहले दशक में भी सत्य है। “जब विधायकों ने महसूस कर लिया कि अपराधी जनजातियों को अपराधी जनजाति अधिनियम के अन्तर्गत रखकर उन्हें सुधारना या सभ्य बनाना सम्भव नहीं है तो उन्हें यह भी महसूस करना चाहिए कि पुलिस को तब तक विश्वसनीय बनाना असम्भव है जब तक कानून की किताबों में ऐसे कानून मौजूद हैं जो पुलिस पर अविश्वास बढ़ाते हैं और उन्हें परेशानी में डालते हैं।”[7]

इस मामले में दुखद तथ्य यह है कि नवीनतम मलिमथ कमेटी की रिपोर्ट को बहुत ज्यादा पुलिस-समर्थक बताया जा रहा है जिसमें आपराधिक न्याय प्रणाली को न्याय की दृष्टि से चुस्त बनाने के लिए इसमें व्यापक परिवर्तन का सुझाव दिया गया है। इसलिए इस बात का कोई संकेत नहीं है कि इस कमेटी की महत्त्वपूर्ण सिफारिशों को लागू करने के लिए आगे की आवश्यक कार्रवाई की जाएगी।

वस्तुतः ‘पुलिस का पुलिस कौन होगा’, यह सवाल हमेशा से बना हुआ है जिसका कोई आदर्श या मॉडल उत्तर नहीं मिला है। एक स्पष्ट दृष्टिकोण यह है कि देश के विद्यमान कानूनों में न्यायिक पुनर्विलोकन के साथ पुलिस की कार्यप्रणाली का प्रावधान है जो भारतीय संविधान की विशेषता है। पुलिस पर नियंत्रण रखने की चिन्ता का कारण इस मूलभूत अवधारणा में निहित है कि किसी भी देश की पुलिस सेवा वहाँ की सरकार का सार्वजनिक चेहरा होती है। इसे इस प्रख्यात कथन में अच्छी तरह व्यक्त किया गया है, “जिस प्रकार किसी देश के पुलिस बलों का चरित्र और गुणवत्ता वहाँ की सरकार और नागरिक प्रशासन की भावना और गुणवत्ता की कसौटी होती है, उसी प्रकार पुलिस लोगों के अपने आचरण और उनकी गुणवत्ता की कसौटी होती है। संक्षेप में, किसी देश की सरकार के स्वभाव को समझने की इच्छा रखनेवाले देश की राजनीतिक संस्था के किसी अध्येता के लिए सबसे अच्छा यह होगा कि वह वहाँ की पुलिस प्रणाली का गहन अध्ययन कर ले जो इस बात का पैमाना है कि कोई सरकार किस हद तक स्वतन्त्र या सत्तावादी है (कोटमैन, जॉन, 1959)।”[8]

यहाँ एक बार फिर प्रारम्भ में उठाए गए मूलभूत प्रश्न पर लौटना अप्रासंगिक नहीं होगायह नियंत्रण क्यों जरूरी है अथवा यह जरूरी है भी या नहीं? पुलिस की विधिक स्थिति और व्यवस्थागत व जमीनी स्तर पर पुलिस पर राजनीतिक-नौकरशाही नियंत्रण की संक्षिप्त समीक्षा से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुलिसवालों को जान-बूझकर अधकचरे विकास की स्थिति में रखा जाता है जिससे कि उनका इस्तेमाल किया जा सके और उन्हें आसानी से किनारे लगाया जा सके। इस तरह से, पुलिसवालों को निश्चित तौर पर प्रशासनिक व्यवस्था में दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाता है, चाहे समारोहों में उनकी कार्यकुशलता या बलिदान की जितनी भी तारीफ कर दी जाए। परिणाम स्पष्ट है। देश के सुरक्षा हित प्रभावित होते हैं। देश की आन्तरिक सुरक्षा स्थिति का कोई भी तटस्थ अध्येता समझ सकता है कि हम सब बारूद के ढेर पर बैठे हैं जिसे पलक झपकते ही उड़ाया जा सकता है। उग्रवाद, जातीय संघर्षों, संकीर्ण धार्मिक कट्टरतावाद, प्रायः सीमा पार से प्रेरित भाँति-भाँति के विद्रोहों से ग्रस्त देश की आन्तरिक सुरक्षा स्थिति ऐसी विस्फोटक होनेवाली है कि इसका प्रभाव किसी भी पारम्परिक युद्ध से हुए नुकसान की तुलना में ज्यादा खराब होगा। क्या भारतीय पुलिस को ऐसी चुनौतियों का सामना करने के लिए पूरी तरह तैयार किया जा रहा है? क्या ऐसा लगता है कि एक अच्छी पुलिस प्रणाली में किसी की दिलचस्पी है जो जनाकांक्षाओं पर खरी उतरे, अपनी गतिविधियों के लिए जवाबदेह हो और कानून के प्रति उत्तरदायी हो? क्या नागरिक प्राधिकारियों द्वारा पर्यवेक्षण के नाम पर प्रचलित राजनीतिक-नौकरशाही नियंत्रण से इस उद्देश्य को पूरा करने में कोई सहायता मिल रही है? किसी योजनाबद्ध राष्ट्रीय सुरक्षा नीति या उद्देश्य के अभाव में बिना किसी राष्ट्रीय पुलिस नेतृत्व के या अपवादस्वरूप संकट के समय को छोड़ दें तो किसी समन्वय करनेवाली निर्धारित मशीनरी के बिना देश में हमारे पुलिस बल अपने-अपने राज्यों में स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रहे हैं। अगर थोड़ी और गहराई में जाएँ तो हम पाएँगे कि वे कानूनी रूप से अछूत, कुप्रशिक्षित, प्रेरणाहीन और उपेक्षा के शिकार हैं। उन्हें कुछ लोगों द्वारा कभी-कभी दुलराया तो जाता है लेकिन राष्ट्रीय सुरक्षा नीति तय करने के मामलों में या जिनकी सुरक्षा उनके हाथों में सौंपी गई है, उनके मामलों में उन्हें विश्वास में नहीं लिया जाता। यह अन्तर्विरोध है या दुविधा। सम्भवतः यह प्रश्न ठीक ही उठाया गया था : क्या समाज के समक्ष पुलिस को

सँभालने की दुविधा है या पुलिस के समक्ष समाज को लेकर यह दुविधा है कि सामाजिक-राजनीतिक चिन्तकों को पागल कर देनेवाले सामाजिक द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व को कैसे सँभालें?

दूसरा प्रश्न है : क्या यह नियंत्रण अच्छे शासन के लिए जरूरी है जो किसी भी प्रशासन प्रणाली का उद्देश्य होता है? अच्छे शासन की अनिवार्य शर्त ही है कि शासक और शासित के बीच सौहार्द हो। क्या हम यह उद्देश्य प्राप्त कर सकते हैं जब एक स्वतन्त्र लोकतंत्र में पुलिस की नियुक्ति शासकों द्वारा जारी है। जिस प्रकार रेलवे सेवा विभिन्न श्रेणी के रेलवे सेवा अधिकारियों द्वारा चलाई जा रही है, अगर उसी प्रकार एक सेवा के रूप में पुलिस को पुलिसवालों द्वारा संचालित या शासित होने के लिए छोड़ दिया जाए तो क्या होगा? क्या पुलिसवालों या पुलिस प्रणाली को कानून और सिर्फ कानून के प्रति जवाबदेह नहीं बनाया जा सकता? क्या तब इस बात का भय है कि अनेक पुलिसवाले कानून का पालन न करनेवाले तत्त्वों में बदल जाएँगे। ऐसे लोग, चाहे पुलिस में हों या कहीं और आज भी खुद में ही कानून बन जाते हैं। पुलिस को प्रतिरोधी बनाने, या कम-से-कम पुलिस की कार्यप्रणाली में राजनीतिक या नौकरशाही के हस्तक्षेप को निष्क्रिय करने, के लिए अब निश्चित तौर पर राष्ट्रीय पुलिस आयोग द्वारा सुझाए गए व्यापक उपायों के साथ प्रयोग किया जा सकता है। जिस तरह से इंटेलीजेंस ब्यूरो बाहरी प्रभाव से मुक्त है, उसे एक उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। केवल इसका निदेशक सरकार के प्रति जवाबदेह होता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस प्रणाली ने अद्भुत रूप से काम किया है। निस्सन्देह इंटेलीजेंस ब्यूरो सरकार के तहत काम करनेवाली सबसे कुशल सुरक्षा एजेन्सी है। एक बार पुलिस नेतृत्व पर भरोसा करके सत्ता में बैठे हुए लोग पुलिस नेतृत्व को जवाबदेह ठहराकर प्रयोग कर सकते हैं। उन्हें काम दीजिए, उन्हें जवाबदेह बनाइए और फिर अगर वे वांछित परिणाम नहीं देते तो कार्रवाई कीजिए। निश्चित तौर पर अगर ये प्रयास किए जाएँ तो सुखद परिणाम निकलेगा।

इसलिए आजादी के 50 से ज्यादा वर्षों के बाद भी अभी देर नहीं हुई है अगर इस बात पर राष्ट्रीय बहस की शुरुआत की जाए कि प्रशासन को नियंत्रित करनेवाली व्यवस्था में पुलिस की वास्तविक भूमिका क्या हो। एक तरह से यह पुलिस नेतृत्व की स्थिति बयान करता है कि वे ऐसा कोई आन्दोलन संगठित या शुरू नहीं कर पाए जबकि यह मुद्दा कई वर्षों तक कुछ वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों के साथ विवाद का विषय रह चुका है। गोर कमेटी ने टिप्पणी की थी, “भारत में पुलिस की भूमिका को ऐतिहासिक प्रक्रिया, सामाजिक स्थिति में परिवर्तन, एक विकासशील समाज के मूल्यों और आकांक्षाओं और आनेवाले एक दो दशकों में चीजों के स्वरूप को ध्यान में रखकर देखा जाना चाहिए।”[9] जैसा कि सबको पता है, ऐसा कोई बदलाव नहीं हुआ है जिससे पता चले कि इस विचार को समझा गया है या इस पर कार्रवाई हुई है। इसलिए सिर्फ वही मान लेना काफी नहीं है जो दिल्ली पुलिस आयोग की रिपोर्ट में भी कहा गया है कि कानून का प्रवर्तन करना और अपराध रोकना तो पुलिस के मुख्य कार्य के सह उत्पाद हैं। पुलिस के मुख्य कार्य तो शान्ति के बल के रूप में काम करना और लोगों के संवैधानिक अधिकारों को बनाए रखना तथा उनकी रक्षा करना है। “लम्बे समय से और शिद्दत से इस बात की जरूरत महसूस की जाती रही है कि देश का कानून स्पष्ट रूप से बताए कि देश के निर्णायक रूप से बदले सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में पुलिस की क्या भूमिका हो? इससे ढेर सारी भ्रान्तियों का निराकरण होगा, अप्रत्याशित अपेक्षाओं को लेकर भ्रम दूर होगा और पुलिस मशीनरी उस कार्य के लिए मजबूत होगी जो उससे अपेक्षित है।”[10] इस कार्य के लिए आज के समय के आधुनिक प्रबंधन विशेषज्ञों की सेवाएँ ली जा सकती हैं। इससे विवादों को सुलझाने और मामले को निपटाने में सहायता मिल सकती है। लेकिन ऐसे प्रयास पुलिस को जोड़े बिना या पुलिस नेतृत्व को इस प्रक्रिया से सम्बद्ध किए बिना न किए जाएँ। निश्चित तौर पर शुद्धीकरण की प्रक्रिया की महती आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. डी. सी. नाथ, “Intelligence Imperatives for India”, पृ. 137
2. पी. डी. शर्मा “Police and Political Development in India,” Policing India in the New Millenium, पृ. 812
3. एन. के. सिंह द्वारा उद्धृत, “Police Reforms” : Policing India in the New Millenium, पृ. 279
4. पी. डी. शर्मा, OP. cit, पृ. 814
5. वही, पृ. 812
6. दिल्ली पुलिस आयोग की रिपोर्ट (1966-1968) में उद्धृत, पृ. 11
7. वही, पृ. 22
8. वी. आर. कृष्णा अय्यर द्वारा “The Police, Human Rights, and Policing the Police” में उद्धृत, Policing India in the New Millenium, पृ. 330
9. गोर कमेटी रिपोर्ट, पैरा 1, अध्याय-IV
10. डी. सी. नाथ, Police Accountability, भारत में बदलते समाज में पुलिस की भूमिका पर अखिल भारतीय सेमिनार, Law Research Institute and I I M Kolkata.

डॉयलाग 6:1 (2004), पृष्ठ 148-156 के लेख का अंग्रेजी से अनुवाद :
रघुवीर शर्मा, वैशाली, गाजियाबाद (उ.प्र.)

महाजनी सभ्यता

प्रेमचन्द*

मुजदः एदिल कि मसीहा नफ्से मी आयद;
कि स अनफ़ाज खुशश बूए-कसे मी आयद। [1]

जागीरदारी सभ्यता में बलवान् भुजाएँ और मजबूत कलेजा जीवन की आवश्यकताओं में परिगणित थे, और साम्राज्यवाद में बुद्धि और वाणी के गुण तथा मूक आज्ञा-पालन उसके आवश्यक साधन थे; पर उन दोनों स्थितियों में दोषों के साथ कुछ गुण भी थे। मनुष्य के अच्छे भाव लुप्त नहीं हो गए थे। जागीरदार अगर दुश्मन के खून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अक्सर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिए जान की बाजी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने हुक्म को कानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था, तो प्रजा-पालन भी करता था, न्यायशील भी होता था। दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-अपकार का बदला फेरने के लिए या अपनी आनबान, रोब-दाब कायम रखने के लिए या फिर देश-विजय और राज्य-विस्तार की वीरोचित महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का खून चूसना कदापि न होता था। कारण, यह कि राजा और सम्राट जनसाधारण को अपने स्वार्थसाधन और धनशोषण की भट्ठी का ईंधन न समझते थे; किन्तु उनके दुःख-सुख में शरीक होते थे और उनके गुणों की कद्र करते थे।

मगर इस महाजनी सभ्यता में तो सारे कामों की गरज महज पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूँजीपतियों को ज्यादा-से-ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानो आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य-समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रू-रियाअत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए। अधिक दुःख की बात तो यह है कि शासक-वर्ग के विचार और सिद्धान्त शासित वर्ग के भीतर भी समा गए हैं, जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और उसका शिकार है समाज। वह खुद समाज से बिलकुल अलग है; अगर कोई सम्बन्ध है, तो यह कि किसी चाल या युक्ति से वह समाज को उल्लू बनावे और उससे जितना लाभ उठाया जा सकता हो, उठा ले।

धन-लोभ ने मानस-भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता-स्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला सभी धन की देहली पर माथा टेकनेवालों में हैं। यह हवा इतनी जहरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डॉक्टर और हकीम हैं कि वह बिना लम्बी फीस लिए बात नहीं करते। वकील और बैरिस्टर हैं कि वे मिनटों को अशर्फियों से तौलते हैं। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जा रही है। मौलवी साहब और पण्डितजी भी पैसे वालों के बिना पैसे के गुलाम हैं। अखबार उन्हीं का राग अलापते हैं। इस पैसे ने आदमी के दिलोदिमाग पर इतना कब्जा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से भी आक्रमण करना कठिन दिखाई देता है। वह दया और स्नेह, सचाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य दया-ममता से शून्य जड़यन्त्र बनकर रह गया है। इस महाजनी सभ्यता ने नए-नए नीति-नियम गढ़ लिए हैं जिन पर आज समाज की व्यवस्था चल रही है। उनमें से एक यह है कि समय ही धन है। पहले समय जीवन था, और उसका सर्वोत्तम उपयोग विद्या-कला का अर्जन अथवा दीन-दुखी जनों की सहायता था। अब उसका सबसे बड़ा सदुपयोग पैसा कमाना है। डॉक्टर साहब हाथ मरीज की नब्ज पर रखते हैं और निगाह घड़ी की सुई पर। उनका एक-एक मिनट एक-एक अशर्फी है। रोगी ने अगर केवल एक अशर्फी नजर की है, तो वह उसे एक मिनट से ज्यादा वक्त नहीं दे सकते। रोगी अपनी दुःखगाथा सुनाने के लिए बेचैन हैं; पर डॉक्टर साहब का उधर बिलकुल ध्यान नहीं, उन्हें उससे जरा भी दिलचस्पी नहीं। उनकी निगाह में उस व्यक्ति का अर्थ केवल इतना ही है कि वह उन्हें फीस देता है। वह जल्द-से-जल्द नुस्खा लिखेंगे और दूसरे रोगी को देखने चले जाएँगे। मास्टर साहब पढ़ाने आते हैं, उनका एक घण्टा वक्त बँधा है। घड़ी सामने रख लेते हैं, जैसे ही घण्टा पूरा हुआ, वह उठ खड़े हुए। लड़के का सबक अधूरा रह गया है तो रह जाए, उनकी बला से! अधिक समय कैसे दे सकते हैं क्योंकि समय रुपया है! इस धन-लोभ ने मनुष्यता और मित्रता का नाम-शेष कर डाला है। पति को पत्नी या लड़कों से बात करने की फुर्सत नहीं, मित्र और सम्बन्धी किसकी गिनती में हैं। जितनी देर वह बातें करेगा, उतनी देर में तो कुछ कमा लेगा। कुछ कमा लेना ही जीवन की सार्थकता है, शेष सब कुछ

---

*उर्दू में : 'कलीम', अगस्त, 1936 में प्रकाशित

समय-नाश है। बिना खाए-सोए काम नहीं चलता, बेचारा इससे लाचार है और इतना समय नष्ट करना ही पड़ता है।

आपका कोई मित्र या सम्बन्धी अपने नगर में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है, तो समझ लीजिए, उसके यहाँ अब आपकी रसाई मुमकिन नहीं। आपको उसके दरे-दौलत पर जाकर कार्ड भेजना होगा। उन महाशय को बहुत से काम होंगे। मुश्किल से आपसे एक-दो बात करेंगे या साफ जवाब दे देंगे कि आज फुर्सत नहीं है। अब वह पैसे के पुजारी हैं, मित्रता और शील-संकोच के नाम पर कब की तिलांजलि दे चुके हैं।

आपका कोई दोस्त वकील है और आप किसी मुकदमे में फँस गए हैं, तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा न रखिए। अगर वह मुरब्बत को गंगा में डुबो नहीं चुका है, तो आपसे देन-लेन की बात शायद न करेगा; पर आपके मुकदमे की ओर तनिक भी ध्यान न देगा। इससे तो कहीं अच्छा है कि आप किसी अपरिचित के पास जाएँ और उसकी पूरी फीस अदा करें। ईश्वर न करे कि आप किसी को किसी चीज में कमाल हासिल हो जाए, फिर उसमें मनुष्यता नाम को न रह जाएगी, उसका एक-एक मिनट कीमती हो जाएगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यर्थ की गपशप में समय नष्ट किया जाए; पर यह अर्थ अवश्य है कि धन-लिप्सा को इतना न बढ़ने दिया जाए कि वह मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति सबको निकाल बाहर करे।

पर आप उस पैसे के गुलाम को बुरा नहीं कह सकते। सारी दुनिया जिस प्रवाह में बह रही है, वह भी उसी में बह रहा है। मान-प्रतिष्ठा सदा से मानवीय आकांक्षाओं का लक्ष्य रहा है। जब विद्या-कला मान-प्रतिष्ठा का साधन थी, उस समय लोग इन्हीं का अर्जन-अभ्यास करते थे। अब धन उसका एकमात्र उपाय है, तब मनुष्य मजबूर है कि एकनिष्ठ भाव से उसी की उपासना-आराधना करे। वह कोई साधु महात्मा, संन्यासी-उदासी नहीं; वह देख रहा है कि उसके पेशे में जो सौभाग्यशाली सफलता की कठिन यात्रा पूरी कर सके हैं, वह उसी राज-मार्ग के पथिक थे, जिस पर वह खुद चल रहा है। समय धन है एक सफल व्यक्ति का। वह सबको इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते देखता है, तो उन्हीं के पद-चिह्नों का अनुसरण करता है। इसमें उसका क्या दोष? मान-प्रतिष्ठा की लालसा तो दिल से मिटाई नहीं जा सकती। वह देख रहा है कि जिनके पास दौलत नहीं, और इसलिए नहीं कि उन्होंने वक्त को दौलत नहीं समझा, उनको कोई पूछने वाला नहीं। वह अपने पेशे में उस्ताद है, फिर भी उसकी कहीं पूछ नहीं जिस आदमी में तनिक भी जीवन की आकांक्षा है वह तो इस उपेक्षा की स्थिति को सहन नहीं कर सकता। उसे तो मुरब्बत, दोस्ती और सौजन्य को धता बताकर लक्ष्मी की आराधना में अपने को लीन कर देना होगा, तभी इस देवी का वरदान उसे मिलेगा। और यह कोई इच्छाकृत कार्य नहीं; किन्तु सर्वथा बाध्यकारी है। उसके मन की आस्था अपने-आप कुछ इस तरह की हो गई है कि उसे धनार्जन के सिवा और किसी काम से लगाव नहीं रहा। अगर उसे किसी सभा या व्याख्यान में

आध घण्टा बैठना पड़े, तो समझ लो कि वह कैद की घड़ियाँ काट रहा है, उसकी सारी मानसिक, भावगत और सांस्कृतिक दिलचस्पियाँ किसी केन्द्र-बिन्दु पर आकर एकत्र हो गई हैं। और क्यों न हों? वह देख रहा है कि पैसे के सिवा उसका और कोई अपना नहीं। स्नेही मित्र भी अपनी गरज लेकर ही उसके पास आते हैं, स्वजन-सम्बन्धी भी उसके पैसे के ही पुजारी हैं वह जानता है कि अगर वह निर्धन होता, तो यह जो दोस्तों का जमघटा लग रहा है, उनमें से एक के भी दर्शन न होते; इन स्वजन-सम्बन्धियों में से एक भी पास न फटकता। उसे समाज में अपनी एक हैसियत बनानी है, बुढ़ापे के लिए कुछ बचाना है, लड़कों के लिए कुछ कर जाना है जिससे उन्हें दर-दर ठोकरें न खानी पड़ें। इस निष्ठुर सहानुभूतिशून्य दुनिया का उसे पूरा अनुभव है। अपने लड़कों को वह उन कठिन अवस्थाओं में नहीं पड़ने देना चाहता, जो सारी आशाओं एवं उमंगों पर पाला गिरा देती हैं हिम्मत-हौसले को तोड़कर रख देती हैं। उसे वे सारी मंजिलें, जो एक साथ जीवन के आवश्यक अंग हैं, खुद तय करनी होंगी और जीवन को व्यापार के सिद्धान्त पर चलाए बिना वह इनमें से एक भी मंजिल पार नहीं कर सकता।

इस सभ्यता का दूसरा सिद्धान्त है 'बिजनेस इज बिजनेस', अर्थात् व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। पुराने जीवन-सिद्धान्त में वह लट्ठमार साफगोई नहीं है, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और जो इस नवीन सिद्धान्त की आत्मा है, जहाँ लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसे का मामला है, वहाँ न दोस्ती का गुजर है, न मुरब्बत का, न इन्सानियत का। 'बिजनेस' में दोस्ती कैसी! जहाँ किसी ने इस सिद्धान्त की आड़ ली और आप लाजवाब हुए। फिर आपकी जबान नहीं खुल सकती। एक सज्जन जरूरत से लाचार होकर अपने किसी महाजन मित्र के पास जाते हैं और चाहते हैं कि वह उनकी कुछ मदद करे। यह भी आशा रखते हैं कि शायद सूद की दर में वह कुछ रिआयत कर दें; पर जब देखते हैं कि वह महानुभाव मेरे साथ भी वही कारबारी बर्ताव कर रहे हैं, तो कुछ रिआयत की प्रार्थना करते हैं मित्रता और घनिष्ठता के आधार पर आँखों में आँसू भरकर बड़े करुण स्वर में कहते हैं, "महाशय, मैं इस समय बड़ा परेशान हूँ, नहीं तो आपको कष्ट न देता, ईश्वर के लिए मेरे हाल पर रहम कीजिए। समझ लीलिए कि एक पुराने दोस्त...।" वहीं बात काटकर आज्ञा के स्वर में फरमाया जाता है, "लेकिन जनाब, आप 'बिजनेस इज बिजनेस' इसे भूल जाते हैं!" उसी क्षण कातर प्रार्थी पर मानो बम का गोला गिरता है। अब उसके पास कोई तर्क नहीं, कोई दलील नहीं। चुपके से उठकर अपनी राह लेता है या फिर अपने व्यवसाय-सिद्धान्त के भक्त मित्र की सारी शर्तें कबूल कर लेता है।

इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई रीति-नीतियाँ चलाई हैं उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त-पिपासु यही व्यवसायवाला सिद्धान्त है। मियाँ-बीवी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस! सब मानवीय, आध्यात्मिक

और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच बस कोई लगाव है तो बिजनेस का। लानत है इस 'बिजनेस' पर! लड़की अगर दुर्भाग्यवश कुँआरी रह गई और अपनी कोई जीविका न निकाल सकी, तो उसे अपने बाप के घर में ही लौण्डी बन जाना पड़ता है। यों लड़के-लड़कियाँ सभी घरों में काम-काज करते ही हैं, पर उन्हें कोई टहलुआ नहीं समझता; पर इस महाजनी सभ्यता में लड़की एक ख़ास उम्र के बाद लौण्डी और अपने भाइयों की मजदूरनी हो जाती है। पूज्य पिताजी भी अपने पितृ-भक्त बेटे के टहलुए बन जाते हैं और माँ अपने सपूत की टहलुई। स्वजन-सम्बन्धी तो किसी गिनती में नहीं। भाई भी भाई के घर आए तो मेहमान है। अक्सर तो उसे मेहमानी का बिल भी चुकाना पड़ता है। इस सभ्यता की आत्मा है व्यक्तिवाद, आप स्वार्थी बना सब-कुछ अपने लिए।

पर यहाँ भी हम किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते। वही मान-प्रतिष्ठा, वही भविष्य की चिन्ता, वही अपने बाद बीवी-बच्चों की गुजर का सवाल, वही नुमाइश और दिखावे की आवश्यकता हर एक की गर्दन पर सवार है और वह हिल नहीं सकता। वह इस सभ्यता के नीति-नियमों का पालन न करे तो उसका भविष्य अन्धकारमय है।

अब तक दुनिया के लिए इस सभ्यता की रीति-नीति का अनुसरण करने के सिवा कोई उपाय न था। उसे झख मारकर उसके आदेशों के सामने सिर झुकाना पड़ता था। महाजन अपने जोम में फूला फिरता था। सारी दुनिया चरणों पर नाक रगड़ रही थी। बादशाह उसका बन्दा, वजीर उसका गुलाम, सन्धि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में, दुनिया उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के सामने सिर झुकाए हुए, हर मुल्क में उसका बोलबाला!

परन्तु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है। राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य-प्रबंध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नई लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज इस नई सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अपनी अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आदी वह इन सबकी घातक, गला घोंट देनेवाली बताई जा रही है। उस पर नए-नए लांछन लगाए जा रहे हैं, नई-नई हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले-से-काले रंग में रंगी जा रही हैं, कुत्सित-से-कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही हैं। उन सभी साधनों से, जो पैसेवालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है; पर सचाई है जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।

निस्सन्देह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिए हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मजदूरों का खून पीता रहकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आजादी नहीं कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, अपने सड़े-गले माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दलन कराए। अगर इसकी स्वाधीनता है तो निस्सन्देह नई सभ्यता में स्वाधीनता नहीं। पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जन-साधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ-सुथरे गाँव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी और सस्ते सद्यः सुलभ न्याय की प्राप्ति हो, तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आजादी है, वह दुनिया की किसी सभ्यतम कहानेवाली जाति को भी सुलभ नहीं। धर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ्तखोर जमात के दम्भमय उपदेशों और अन्धविश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है, तो निस्सन्देह वहाँ इस स्वतन्त्रता का अभाव है; पर धर्म-स्वातन्त्र्य का अर्थ यदि लोक-सेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है, तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है, और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।

जहाँ धन की कमी-बेशी के आधार पर असमानता है, वहाँ ईर्ष्या-द्वेष, जोर-जबर्दस्ती, बेईमानी, झूठे मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहाँ धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहाँ जलन क्यों हो और जब्र क्यों हो? सतीत्व-विक्रय क्यों हो और व्यभिचार क्यों हो? झूठे मुकदमे क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों? ये सारी बुराइयाँ तो दौलत की देन हैं; पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने ही इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया, तो उनका सिर कुचलने के लिए पुलिस-अदालत है, काला पानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से बच नहीं सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असम्भव है। पैसा अपने साथ ये सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयाँ अपने-आप मिट जाएँगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना तो बेकार है। यह नई सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है। वहाँ कोई आदमी अमीरी ढंग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता; बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है। गहनों से लदकर कोई स्त्री

सुन्दरी नहीं बनती, घृणा की पात्र बनती है। साधारण जन-समाज से ऊँचा रहन-सहन रखना वहाँ बेहूदगी समझी जाती है। शराब पीकर वहाँ बहका नहीं जा सकता, अधिक मद्यपान वहाँ दोष समझा जाता हैधार्मिक दृष्टि से नहीं, किन्तु शुद्ध सामाजिक दृष्टि से; क्योंकि शराबखोरी से आदमी में धैर्य और कष्ट-सहन, अव्यवस्था और श्रमशीलता का अन्त हो जाता है।

हाँ, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन-साधारण को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाए और तरह-तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फायदा उठाए, या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी-मोटी रकमें उड़ाए और मूँछों पर ताव देता फिरे। वहाँ ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी की तनख्वाह भी उतनी ही है, जितनी एक कुशल कारीगर की। वह गगनचुम्बी प्रासादों में नहीं रहता, तीन-चार कमरों में ही उसे गुजर करनी पड़ती है। उसकी श्रीमतीजी रानी साहिबा या बेगम बनी हुई स्कूलों में इनाम बाँटती नहीं फिरती; बल्कि अक्सर मेहनत-मजदूरी या किसी अखबार के दफ्तर में काम करती है। सरकारी पद पाकर व्यक्ति अपने को लाट साहब नहीं, बल्कि जनता का सेवक समझता है। महाजनी सभ्यता का प्रेमी इस समाज-व्यवस्था को क्यों पसन्द करने लगा जिसमें उसे दूसरों पर हुकूमत जताने के लिए सोने-चाँदी के ढेर लगाने की सुविधाएँ नहीं। पूँजीपति और जमींदार तो इस सभ्यता की कल्पना से ही काँप उठते हैं। उनकी जूड़ी का कारण हम समझ सकते हैं। पर जब वे लोग भी जो अनजान में महाजनी सभ्यता का समर्थन कर रहे हैं, उसकी खिल्ली उड़ाने और उस पर फबतियाँ कसने लगते हैं तो, हमें उनकी इस दास-मनोवृत्ति पर हँसी आती है। जिसमें मनुष्यता, आध्यात्मिकता, उच्चता और सौन्दर्य-बोध है, वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नहीं कर सकता, जिसकी नींव लोभ, स्वार्थपरता और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी हो। ईश्वर ने तुम्हें विद्या और कला की सम्पत्ति दी है, तो उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे जन-समाज की सेवा में लगाओ, यह नहीं कि उससे जन-समाज पर हुकूमत चलाओ, उसका खून चूसो और उसे उल्लू बनाओ।

धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं हैयह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मजहब का पौधा यरूशलम में उगा, और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई। बौद्ध धर्म ने उत्तर भारत में जन्म-ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरु-दक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक जैसा ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है; पर मूल-स्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए भी कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ,

महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकाएँगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे; पर जो सत्य है एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

(हिन्दी में : 'हंस', सितम्बर, 1936)

सन्दर्भ

1. हृदय, तू प्रसन्न हो कि पीयूष-पाणि मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की साँसों से किसी की सुगन्धि आ रही है!

प्राप्ति स्वीकारपुस्तकें

प्रयोजनमूलक हिन्दी, डॉ. शर्वेश पाण्डेय, प्रथम संस्करणः 2005, प्रकाशकः देवश्री प्रकाशन, 134, गालिबपुर, मऊनाथ भंजन, मऊ-275101(उत्तर प्रदेश), मूल्यः 60/- रुपये, पृष्ठः 158.

अनुवादः एक परिचय, डॉ. शर्वेश पाण्डेय, प्रथम संस्करणः 2004, प्रकाशकः देवश्री प्रकाशन, 134, गालिबपुर, मऊनाथ भंजन, मऊ-275101(उत्तर प्रदेश), मूल्यः 60/- रुपये, पृष्ठः 100.

पर्वत के पार (मणिपुरी कहानियों का हिन्दी अनुवाद**),** डॉ. यामिनी देवी, अनुवादः एलाङ्बम विजयलक्ष्मी, प्रथम संस्करणः 2005, प्रकाशकः राय प्रवीणा ब्रदर्स, तेरा बाजार, इम्फाल-794 001 (मणिपुर), मूल्यः 100/- रुपये, पृष्ठः 162.

पत्रिकाएँ गगनाञ्चल, वर्ष 28 अंक 1, जनवरी-मार्च, 2005, सम्पादकः मधुप मोहता, प्रकाशकः भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली, वार्षिक शुल्कः 100 रुपये। पृष्ठः 200.

दीप कमल, (राष्ट्रवादी मासिक समाचार पत्रिका) वर्ष 1 अंक 10, अक्टूबर 2005, संपादकः सुभाष राव, प्रकाशकः राजेश मूणत, मूणत ऑफसेट प्रिंटर्स, रायपुर; एकात्म परिसर, रजबंधा मैदान, रायपुर, पृष्ठः 42. **अक्षरम संगोष्ठी** (हिन्दी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका) वर्ष 4 अंक 3 जुलाई-सितम्बर 2005, संपादकः नरेश शांडिल्य, प्रकाशकः संकल्प भवन, उदासीन आश्रम, आरामबाग, पहाड़गंज, नई दिल्ली-55, मूल्यः 15 रुपये, पृष्ठः 64.

सिन्धु दर्शन राष्ट्रीय गौरव का उत्सव, 1-3 जून (प्रत्येक वर्ष), लेह (लद्दाख) **Sindhu Darshan,** Editor: Tarun Vijay, First Edition: 2002. Publisher: Department of Tourism, Government of India, New Delhi.

‘कबीर’ का दार्शनिक पक्ष

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी*

सन्त कबीर दार्शनिक नहीं, अपितु रहस्यदर्शी सिद्ध रचनाकार हैं। रचनाकारों की बानियों के भीतर से कोई भी चिन्तक बुद्धि के बल पर दार्शनिक साँचा निकाल सकता हैयद्यपि अनेक ऐसे चिन्तक हैं जो मानते हैं कि रचनाकारों की रचनाओं से किसी एक व्यवस्थित दर्शन को निकाल पाना सहज और सुकर नहीं है। उसका कारण यह बताते हैं कि रहस्यदर्शी रचनाकारों की रचना जिस तरह की प्रतिभा की प्रसूति हैवह किसी विशिष्ट व्यवस्था या नियम में निगड़ित नहीं होतीउससे जैसे-तैसे नियम या व्यवस्था निकाले जा सकते हैंपरन्तु वह स्वयं नियम या व्यवस्था में बँधी नहीं होती। भक्तवर तुलसी के दर्शन पर आज तक ऐकमत्य नहीं हो सका।

मध्यकाल के सभी सन्त नाम-साधना पर बल देते हैं और एकमत हैंपर उनकी रचनाओं के साक्ष्य पर यह प्रतीत नहीं होता कि उनकी धारा एक ही है। सूर तुलसी की नाम-साधना रसपर्यवसायी हैवे लोग लीलागान और चरितगान करते हैंजबकि कबीर की रचनाओं में न लीलागान है और न ही चरितगान। वहाँ साधना और तज्जन्य आन्तरालिक या पार्यन्तिक अनुभूतियों की व्यंजना अवश्य है। वे न तो सूर की तरह कीर्त्तनकार हैं और न तुलसी की तरह रामचरित के गायक। परन्तु वे मानते हैं

राम नाम के पटतरे देवे को कछु नाहिं।
क्या लै गुरु सन्तोषियै, हौंस रही मन माहि॥[1]

मूलतः कबीर साधक हैंअतः उनके दर्शन की ओर उनकी साधना पद्धति की डोर पकड़कर बढ़ना ही ठीक होगा। उनकी साधना पद्धति की निर्विवाद संज्ञा है‘सुरत शब्द योग’। कबीर स्पष्ट कहते हैं

साधो सबद साधना कीजै।
जेहि सबद तें सब उपजे हैं ताहि गहि लीजै॥[2]

---

*2, स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड, उज्जैन (म.प्र.)

सबद ही मूल तत्त्व है। साधना से उसका साक्षात्कार करणीय है। अन्यत्र भी ‘कबीर ग्रन्थावली’ में कहा गया है

सार सबद महि बाँचिहौ, मानो इतवारा।[3] पद 316

ठाकुर जयदेव सिंह[4] इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं, “सार शब्द वह सामान्य पराशक्ति है जिसे ‘शब्द ब्रह्म’ कहा गया हैजो वाचक-वाच्य दोनों हैजहाँ पद और पदार्थ एक हैंजो सारी सृष्टि का मूल है। सृष्टि के इस मूल को पाने के लिए उसके साथ सुरत का योग वांछित है।”

मध्यकाल की समस्त साधन धाराएँ परात्पर सत्ता को ‘समरस’ तत्त्व मानती हैंजिन दो का वहाँ सामरस्य हैउनका नाम भले ही भिन्न-भिन्न होपर अवधारणा भिन्न नहीं हैपरात्पर सत्ता की। बौद्ध-सिद्धों का ‘बोधिचित्त’ शून्यता और करुणा अथवा प्रज्ञा और उपाय का समरस रूप है। नाथपंथियों के यहाँ वह तत्त्व ‘पिण्ड’ और ‘पद’ का समरस रूप है। इसी प्रकार नाद-पर्यवसायी कबीर आदि की परात्पर सत्ता ‘सुरत’ और ‘शब्द’ का समरस रूप है

राम खोदाय सकति सिव एकै।[5] वी.श. 48, पृ. 18
विश्व सकल सिव शक्ति महँ अक्षर अनन्य, पृष्ठ 424

‘सुरत’ शक्ति है और ‘सबद’ शक्तिमान। आगमों में परात्पर सत्ता की यही द्वयात्मक अद्वयवादी अवधारणा प्रतिष्ठित है और मध्यकालीन समस्त धाराएँ नाम-भेद से इसी अवधारणा को स्वीकार करती हैं। कृष्णाश्रयी धारा में वह राधा और कृष्ण तथा रामाश्रयी धारा में वह श्री सीता और राम है। सूफियों में भी इसका पता ‘अलजात’ और ‘अलसिफात’ के रूप में चलता है। इस अवधारणा का प्रभाव जैन रहस्यवादी सन्तों के वचनों तक पर पड़ा है। ‘पाहुड़ दोहा’ आदि रचनाएँ देखी जा सकती हैं। वहाँ भी शक्ति और शक्तिमान की समरसता के स्वर मुखर हैं। ईशावास्य में भी कहा गया है‘तदेजति तन्नैजति’परात्पर सत्ता एजनात्मा और अनेजनात्मा हैस्थिति-गति का समरस रूप है। सन्तजन उसे ‘सबद’ कहते हैं और उसे ही सृष्टि का मूल मानते हैं। परात्पर सत्ता के सम्बन्ध में सन्त कबीर का यही पक्ष है। डॉ. शशिभूषण दास गुप्त का भी पक्ष है

“All kinds of erosteric Sadhana of India have a common background. In all the erosteric schools : The absolute reality is conceived of possessing in its nature the potency of two aspects or attributes. These two aspects or attributes are, again conceived as the negative and the positive, the static and the dynamic etc.”[6]

सन्त कबीर की अवाङ्मनोगोचर रहस्यमयी अनुभूति की अभिव्यक्ति जिन पंक्तियों में हुई हैवह ‘पूर्णता’ की अनुभूति है। हम समीक्षक बौद्धिक धरातल पर

अपने-अपने दृष्टिकोण के साँचे में ग्रहण करते हैंअतः उस परात्पर सत्ता के सम्बन्ध में विविध पक्ष उभरते हैं। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन इस सन्दर्भ में संगत लगता है। वे कहते हैं, “कबीरदास के पदों से, जैसा कि हम आगे देखेंगेएकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, विलक्षणवादआदि कई परस्पर विरोधी मतों के समर्थन हो सकते हैं, पर इस विरोध का कारण कबीरदास के विचारों की अस्थिरता नहीं है, बल्कि यह है कि वे भगवान को (रहस्यमय सत्ता) को अनुभवैकगम्य, निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियों का आधार समझते थे। इसलिए लौकिक दृष्टि से जो बातें परस्पर विरोधी दीखती हैंअलौकिक भगवत स्वरूप में वे सब घट जाती हैं। यह बात भक्तों और सन्तों की दुनिया में नई नहीं है। भक्त लोग एक साथ परात्पर सत्ता के लिए कई परस्पर विरोधी विशेषणों का व्यवहार करते हैं।”[7]

कई लोग यानी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक कहते हैं कि कबीर ने जो कुछ कहा हैपरात्पर सत्ता या साधना के सन्दर्भ मेंवह सब सुनी-सुनाई बातों पर निर्भर है। ऐसा कहनेवाले कबीर आदि सन्तों से बड़े और महान् हो सकते हैंपर कबीर स्वयं कहते हैं

“करत विचार मनहिं मन उपजा ना कहीं गया न आया।”[8-क]

उन्होंने इस निर्मल ज्ञान-जल का उद्गिरण किया हैजो चेतते-चेतते स्वतः प्रकाशित हो गया है। यह अवश्य है कि, ‘सतगुरु तत् कह्यो विचार’ से कबीर ने संकेत पाकर ‘मूल गह्यौ अनभै विस्तार’ की बात स्वीकार की है। मूल तत्त्व को उन्होंने अपने अनुभव के विस्तार से पकड़ा है। उन्होंने स्पष्ट कहा है

“कहिबे कूँ सोभा नहीं देखा ही परवान्।”[8-ख]

उस रहस्यमय तत्त्व के विषय में जो कुछ कहा जाए, वह प्रमाण नहीं है, बल्कि अपरोक्षानुभूति ही उसके विषय में प्रमाण है। वे स्वयं कहते हैं

अविगत अकल अनूपम देखा कहता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगे जान मिठाई॥[9]

वे उसे न जाने कितने नामों से पुकारते हैं। वे भी वाणी की लाचारी व्यक्त करते हुए कहते हैं

एक कहैं तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर बिचारि॥[10]

बहरहाल सन्त कबीर का पक्ष है“शब्द निरंजन राम नाम साँचो।” [11] अर्थात् उनका राम नाम निरंजन ‘सबद’ ही है। कबीर उसे ‘सहज धुनि’[12] भी कहते हैं। इस

प्रकार उनकी मान्यताओं को खतिया कर रखा जाए तो वह इस प्रकार होगा

(1) मूल तत्त्व ‘सबद’ है। वही ओंकार है। वही शब्द ब्रह्म है, आदि शक्ति है, हरिहराराध्य वेद प्रतिपाद्य मूल तत्त्व है।

(2) सद्गुरु और सबद एक ही हैपहला शरीरी है और दूसरा अशरीरी।

(3) शब्द ही सृष्टि का मूल है और स्वयं सारी सृष्टि शब्दात्मा यानी स्पन्दात्मा है। कारण, मूल शब्द स्पन्दात्मा है।

(4) उसे ध्वन्यात्मक भी माना गया। इसे कभी-कभी अनहद भी कहा गया है।

सम्प्रति विचारणीय यह है कि ‘सबद’ है क्या? वही जिसे हम वाग्यंत्र-संभूत या आहननजन्य मानते हैं जो श्रुतिगोचर है? कभी नहीं, वह स्वयं अपने अस्तित्व के लिए अन्य सापेक्ष तथा उत्पाद विनाशशील है। अतः यह श्रवणेन्द्रियगोचर शब्द वह शब्द नहीं हैसवाल यह है कि वह शब्द यह शब्द नहीं है तो है कौन? और जब वह श्रुति-विषय नहीं हैतो उसे शब्द कहा ही क्यों गया?

महत्त्व की बात यह है कि निगम, आगम, कुरान, बाइबिलसभी सृष्टि को शब्द पूर्विका मानते हैं। निगमागम सम्मत है“वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे।” [13] बाइबिल कहती है

“In the beginning there was the word, and the word was with the God, and the God was word.”

कुरान कहता है‘कुन’ हो जा और सृष्टि शब्दपूर्विका बन गई। इस प्रकार यह सार्वभौम मान्यता है कि सृष्टि का मूल ‘शब्द’ ही है। जहाँ हलचल है, गति हैवहाँ शब्द है। सारा जगत् गति या हलचल का नामान्तर है। ‘गच्छतीति जगत्’गतिशील होने से ही जगत् जगत् है। इसलिए इस गत्यात्मक जगत् का मूल उपादान ‘गति’ ही है। वही शक्ति हैसारे पदार्थ इसी के रूपान्तर हैं। विज्ञान भी मानता है कि ‘इनर्जी’ ही ‘मास’ में रूपान्तरित होती है। लीलापुरुष परात्पर सत्ता की इच्छा ही शक्ति है, गति हैआद्यस्पन्द हैसामान्य स्पन्द है। प्रलय-काल में वह ‘निःअच्छर’ या ‘निःस्पन्द’ हैस्पन्दातीत है‘सुन्न’ है। कबीर कहते हैं

“ऊँकारे जग ऊपजै” तथा
“ऊँकार है आदि मूला।” कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ 244
“महज सूँनि इक बिरवा उपजी धरती जलहस सोखिया”[14]

स्पन्दातीत परात्पर सत्ता के प्रथम स्पन्द से ही सृष्टि हुई और अन्त में सब कुछ उसी में विलीन हो गया या होगा। सृष्टि उसी की मौज है।

“करता आनन्द खेल लाई।” कबीर, पृष्ठ 280

वह मौजी है“मौजी आपु कहावै।” कबीर इस समरस दशा को शून्य कहते

है

"कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन तहाँ कछु आहि कि सुन्य"[15]

इस 'सुंन' या स्पन्दातीत दशा से स्पन्द सामान्य का होना, फिर स्पन्द सामान्य से तत्तत् शुद्ध या तन्मात्र स्पन्द का होना, तदनन्तर अशुद्ध स्पन्द का अवतरण फिर उसमें भी सूक्ष्म और स्थूल स्पन्द का अवतरण। मूल तत्त्व से गत्यात्मक सृष्टि का यही क्रम है।

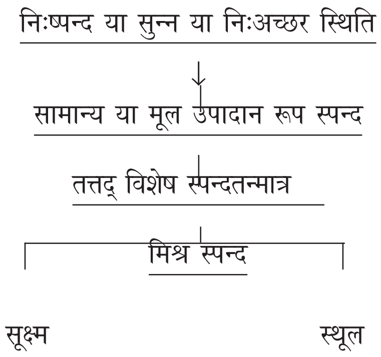
निःष्पन्द या सुन्न या निःअच्छर स्थिति
सामान्य या मूल उपादान रूप स्पन्द
तत्तद् विशेष स्पन्दतन्मात्र
मिश्र स्पन्द
सूक्ष्म
स्थूल

इस मूल स्पन्द को 'शब्द' दो कारणों से कहा गयाएक तो वह गत्यात्मक है और दूसरे अन्य रूपादि विषयों की अपेक्षा सर्जनात्मक है। स्पन्द और शब्द समनियत हैं। वह सीमाबद्ध श्रुति या श्रवणेन्द्रिय एक सीमा तक ही उसे पकड़ पाती हैउसके ऊपर 'तन्मात्र' को पकड़ने वाला कर्ण प्रजापति ही है। वह प्रत्येक पदार्थ के मूल या तन्मात्र शब्द या स्पन्द विशेष को पकड़ मनोवांछित पदार्थ की सृष्टि कर सकता है।

सृष्टि का यह क्रम मूल तत्त्व का अवरोहण हैआत्मप्रसार हैसंसार है। इस शक्ति का पुनरावर्तनअपने मूल रूप से तादात्म्य प्राप्त करना सन्तों का परम लक्ष्य है। तदर्थ इस शरीर की कारा में कैद शक्ति या सुरत, जो उसी का अविच्छेद्य अंश हैको राग के सहारे प्रत्यावर्तित करना पड़ता है। सुरत को सबद के प्रति रागसिक्त करना पड़ता है। आन्तरालिक आलम्बन शरीर सबद सद्गुरु ही हैवही अशरीरी सबद से उसे एकात्म कराता है। उसका मार्ग नाथपंथियों की तरह पिपीलिका मार्ग नहीं हैविहंगम मार्ग हैकहा है

विहंगम चढ़ि गयउ अकासा।
बैठि गगन चढ़ि देखु तमासा।[16]

इस प्रत्यावर्तन में आन्तरालिक और पार्यन्तिक अनुभूतियों का विवरण कबीर की रचनाओं में देखा जा सकता है।

बंकनालि के अन्तरे पछिम दिसा के बाट।
नीझर झरे रस पीजिए, तहाँ भँवर गुहा के घाट रे॥[17]

तथा

गगन घटा घहरानी साधो गगन घटा घहरानी।[18]

इस प्रकार कबीर का मूल तत्त्व उसके अवरोहण तथा आरोहण या प्रत्यावर्तन उन्हीं की पंक्तियों के साक्ष्य पर स्पष्ट है।

सन्दर्भ

1. कबीर ग्रन्थावलीसाखी, गुरुदेव को अंग, पृ. 1, साखी संख्या-4
2. कबीरहजारी प्रसाद द्विवेदी (परिशिष्ट), कबीरवाणी, पद 578-268
3. 'सबद' (कबीर वाङ्मय, खण्ड 2), पृ. 401
4. वही, पृ. 402
5. बीजक, शब्द 48, पृ. 181
6. Obscure Religious Cults-Introduction (xxxiv)
7. कबीरहजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 110
8-क. वही, 12 परचा को अंग
8-ख. कबीर ग्रन्थावली, पद 42, पृ. 102
9. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 90, पद 6
10. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ. 107
11. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 134, पद 142
12. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 138
13. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 244
14. सन्त कबीर, पृ. 181
15. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 142-43
16. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-2, पृ. 42
17. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 88, पद 4इसमें आध्यात्मिक मंजिलों का वर्णन है।
18. कबीर (कबीरवाणी), पृ. 283

आचार्य शुक्ल का साहित्य-दर्शन

साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के शलाकापुरुषों में परिगणनीय हैं। वह हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में प्राचीन साहित्याचार्यों की साहित्यालोचन-परम्परा के उत्तरवर्ती विकास के अन्तिम ध्वजवाहक थे। उनके द्वारा लिखित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'चिन्तामणि' और 'रसमीमांसा' नामक ग्रन्थ वेदान्त की प्रस्थानत्रयी की भाँति विशिष्ट सारस्वत गरिमा का संवहन करते हैं। विशेषतया, 'चिन्तामणि' और 'रसमीमांसा' से यह स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त के विवेचन में वह बहुधा वेदान्तमार्ग का ही अनुसरण करते हैं, तभी तो उनकी दृष्टि में भक्ति चित्त के भावमय प्रकाश के रूप में प्रस्फुटित होती है। कहना न होगा कि उन्होंने पूर्वाचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने साहित्यालोचन के द्वारा साहित्य को जिस दर्शन से संवलित किया है, उसकी अपनी सर्वातिशायी विशेषता और नवीनता है।

आचार्य शुक्लजी का साहित्य-दर्शन मूलतः मानव के जीवन-दर्शन से सम्बद्ध है। इसलिए वह 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' सिद्धान्त के प्रवर्त्तक शंकराचार्य की भाँति अद्वैतवादी नहीं थे, अपितु वल्लभाचार्य की भाँति 'ब्रह्म सत्यं जगत्सत्यं अंशो जीवो हि नापरः' सिद्धान्त के माननेवाले परम शुद्धाद्वैतवादी थे। इसीलिए, उन्होंने शुद्धाद्वैतवाद के आलोक में अपने ही रस-सिद्धान्त की स्थापना की और उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए, सगुण-निर्गुण भक्ति का समन्वय करते हुए रसानुभूति के सम्बन्ध को लोकहृदय की अनुभूति से जोड़ा और हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा की संज्ञा दी, साथ ही प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र की तरह रस को सुख-दुःखात्मक मानकर लोकजीवन की मिश्रित हृदयानुभूति की सच्ची पहचान भी उपस्थित की। और इसीलिए, कर्म, ज्ञान और भक्ति का प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि के समर्थक गोस्वामी तुलसीदास और उनके सुख-दुःखमिश्रित चरित्र से सम्पन्न मर्यादापुरुषोत्तम राम आचार्य शुक्लजी के विशेष प्रिय बने।

---

*पूर्व सम्पादक, परिषद पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।
पता : 37, भारतीय स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी, काली-मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना-800 020।

आचार्य शुक्लजी ने जिसे ज्ञानदशा या आत्मा की मुक्तावस्था कहा है, वही वल्लभाचार्य की सात्त्विकज्ञानोत्तर कैवल्य मुक्ति या सगुण-जीवन्मुक्ति है। इसी मुक्तावस्था को शुक्लजी ने 'रसदशा' या 'हृदय की मुक्तावस्था' के समानान्तर रखा है। उनका भावयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग स्पष्ट ही वल्लभाचार्य के प्रवाह-पुष्टि और मर्यादा-भक्ति का रूपान्तर है। पुनश्च, उनका भावयोग तो स्पष्ट ही वल्लभाचार्य के भक्तियोग का ही पर्याय है। इसलिए, आचार्य शुक्लजी एक ओर शुद्धाद्वैतवादी थे, तो दूसरी ओर बौद्धाचार्य वसुमित्र की तरह सर्वास्तिवादी भी। क्योंकि, उन्होंने सर्वास्तिवादी की भाँति प्रत्येक वस्तु की सत्ता स्वीकृत करते हुए कहा है कि द्रव्य और शक्ति दोनों अक्षर और अविनाशी हैं। इस प्रकार, आचार्य शुक्लजी, हिन्दी-साहित्य की विवेचना-परम्परा में मानवतावादी जनचेतना के धरातल पर भारतीय दर्शन, संस्कृति, सिद्धान्त और साधना के प्रतिष्ठापक हैं, साथ ही, रूढ़िवादी आस्तिकता से हटकर ज्ञान और संस्कार एवं आदर्श और व्यवहार या यथार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में पौरस्त्य और पाश्चात्य विचारधाराओं के ऐतिहासिक समन्वय की दृष्टि से नए व्याख्याकार और साहित्येतिहास के विलक्षण द्रष्टा भी हैं। यही कारण है कि हिन्दी के इतिहासविद् आलोचकों में उनका अतिशय वरेण्य और कूटस्थ स्थान बन गया है।

विशुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य के मतानुसार, ब्रह्म के सत् एवं चित्, अर्थात् सगुण एवं निर्गुण, दोनों के संयोग से जीव-जगत् की सृष्टि होती है, इसलिए जगत् सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का आधिभौतिक या अव्यक्त का व्यक्त स्वरूप है। वल्लभाचार्य के मत से सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के समन्वय से जगत् की सृष्टि करते हैं और अपनी 'सन्धिनी' शक्ति से सत्स्वरूप का और 'ह्लादिनी' शक्ति से आनन्द-कला का प्रकाश करते हैं। आचार्य शुक्लजी ने 'रसमीमांसा' में काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में ब्रह्म की इस आनन्द-कला को लोकमंगलविधात्री शक्ति के रूप में ग्रहण किया है और इस प्रसंग की उनकी जो व्याख्या है, वह तदनुरूप तो है ही, अपनी विशिष्ट मौलिकता से भी मण्डित है। उनके कथन का आशय है कि अव्यक्त प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक अवस्थित सत्त्व, रजस् और तमस्, तीनों गुण समष्टि-रूप में ब्रह्म की लोकमंगलविधायिनी आनन्द-कला के प्रकाश के माध्यम हैं। आचार्य शुक्ल ने तीनों गुणों की समष्टि स्वीकार करते हुए भी उसमें विशिष्टता उपस्थापित की है। ब्रह्म की आनन्द-कला या ह्लादिनी शक्ति की सही प्रकाश-पद्धति यही है कि रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके संकेत पर काम करें। ऐसी स्थिति में रजोगुण और तमोगुण अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टि-रूप में सत्त्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्त्वगुण के शासन में रजोगुण की कठोरता और तमोगुण की प्रचण्डता भी अमंगलकारी न

प्रतीत होकर लोकमंगलकारी सात्त्विक तेज के रूप में भासित होंगी।

वल्लभाचार्य के मतानुसार, ब्रह्म सच्चिदानन्दमय और अद्वितीय सत् हैं और वह ‘सन्धिनी’ शक्ति के द्वारा अपने सत्स्वरूप का प्रकाश करते हैं। स्वयं शुक्लजी ने भी वल्लभाचार्य के नामोल्लेखपूर्वक इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा है कि ब्रह्म की सन्धिनी शक्ति द्वारा प्रकाशित सत् के दो अर्थ हैं : वास्तविक तथा अच्छा या शुभ (द्र. ‘रसमीमांसा’, पृ. 70)। इस प्रकार शुक्लजी काव्य में यथार्थ और शुभ यानी सत्य और शिव दोनों पक्षों के समावेश के आग्रही हैं।

वल्लभाचार्य ने परब्रह्म को सर्वव्यापी रस-रूप माना है, इसलिए रसशास्त्र में रस का जो विवरण मिलता है, वह रस रूप भगवान् का ही कार्यभूत अंश है (**‘रसो वै सः’**)। रस की अभिव्यंजना की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। अतएव, रस वास्तव में एक होते हुए भी भिन्न रूपों में प्रकट होता है। वास्तव में परब्रह्म ही हृदय में आविर्भूत होकर रस कहलाते हैं और वही आनन्द की उत्पत्ति करते हैं। चिदानन्द ही रस है। भावमय भक्ति से ही भगवान् के रस-रूप का आविर्भाव होता है। ब्रह्मरूप से भी भगवान् का आविर्भाव रसात्मक है। इस प्रकार, आनन्दात्मक या रसात्मक भगवान् की इच्छा से ही उनका ब्रह्मत्व जीवरूप ग्रहण करता है और ब्रह्म की भक्ति से वही जीव पुनः ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। वल्लभाचार्य का यही विशुद्धाद्वैत है। आचार्य शुक्लजी ने भी ‘रसमीमांसा’ (पृ. 259-260) में रसात्मक बोध के प्रसंग में वल्लभाचार्य के रस-सिद्धान्त को ही समेकित रूप से उपन्यस्त करते हुए लिखा है कि सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूपों और भावों से ही निष्पन्न हुई हैं। हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, घृणा, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आलम्बन बाहर के ही हैं। जब हमारी आँखें बाहर देखने में ही प्रवृत्त रहती हैं, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं और जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। अर्थात्, मन की बाह्य और आभ्यन्तर वृत्ति के अनुसार ही रूपविधान होता है। और फिर, प्रत्यक्षानुभूत बाह्य रूपविधान ही आभ्यन्तर रूप-प्रतीति का मूलकारण है। यह रूपविधान प्रत्यक्ष, स्मृत और सम्भावित या कल्पित तीन प्रकार का होता है। इस वैविध्यमूलक रूपविधान में भावों को इस प्रकार जागरित करने की शक्ति रहती है, जिससे वे भाव रसकोटि में आ जाते हैं। इस प्रकार, रूपविधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति ही काव्यानुभूति या रसानुभूति है। यही जीवत्व से ब्रह्मत्व की ओर या सत्य से शिव की ओर या फिर यथार्थ अथवा वास्तविक अनुभूति से रसानुभति या काव्यानुभूति की ओर प्रस्थान है।

‘ब्रह्मसूत्र’ के अणुभाष्य में वल्लभाचार्य का कथन है कि जीव में विद्यमान, किन्तु तिरोहित, आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। सत्, चित् और आनन्द के प्रकट होने तथा व्यापकत्व आदि धर्मों के आविर्भूत होने पर जीव का ब्रह्मसाम्य होता है, यही जीव का ब्रह्मभाव है। ऐसी स्थिति में जीव-शरीर आदि पंचतत्त्व में विलीन न होकर

मूलकारण में लीन हो जाता है, अर्थात् वह जीवत्व से मुक्त होकर अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार, जीव जब ज्ञान द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करता है, तब वह विभु हो जाता है (विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य : महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज- कृत ‘भारतीय साधना की धारा’ तथा डॉ. राधारानी सुखवाल-कृत ‘वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त’)।

जीव की इस विभुता से आचार्य शुक्लजी के साधारणीकरण का साम्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में उनका मन्तव्य (द्र. ‘रसमीमांसा’ का ‘काव्य का लक्ष्य’ प्रकरण) है कि रसात्मक अनुभूति काव्य के पाठक या श्रोता को प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति से पृथक् करती है। रसात्मक अनुभूति की यही विशेषता शुक्लजी का साधारणीकरण है। काव्य का श्रोता या पाठक विषयानुसार उद्भूत जिन भावों का अनुभव करता है, वे केवल उसके ही हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते, अपितु उनके व्यापकत्व धर्म से मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं, इसलिए काव्य पढ़ते या सुनते समय प्रत्येक मनुष्य में समान भावों की अनुभूति का व्यापक संचार होता है। इस प्रकार, समानुभूति की व्यापकता से उत्पन्न रसोद्बोध ही साधारणीकरण है। ब्रह्मसाम्य या विभुता की स्थिति में जिस प्रकार जीव का पंचतत्त्व में विलीनीकरण न होकर मूलकारण में होता है, उसी प्रकार साधारणीकरण का प्रभाव या मूलकारण का होता है, न कि व्यक्ति या सत्ता का। अर्थात्, अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच रहनेवाली मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय का लोकहृदय में विलीनीकरण होता है। लोकहृदय में सामान्य हृदय के लीन होने की इसी दशा को शुक्लजी ने ‘रसदशा’ कहा है। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य के अनुसार यही जीवन्मुक्त की दशा है। इसी दशा में जीव का तिरोहित आनन्द प्रादुर्भूत होता है और वह ब्रह्मानन्द के भोग की स्थिति में जा पहुँचता है।

आचार्य शुक्लजी ने अपर प्रजापति-रूप कवि द्वारा निर्मित काव्य-जगत् तथा ब्रह्म द्वारा सृष्ट जीव-जगत् दोनों में स्थितिसाम्य स्वीकार किया है। वल्लभाचार्य जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अविकृत परिणामवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। परिणाम विकृत और अविकृत दोनों प्रकार का होता है। विकृत परिणाम वह है, जब कोई पदार्थ रूपान्तरित होने पर पुनः पूर्वरूप में नहीं आ सके। जैसे दूध से दही बन जाने पर वह पुनः दूध नहीं बन सकता। इसलिए मूलकारण दूध में विकार आने से ही यह विकृत परिणाम कहलाता है। अविकृत परिणाम ठीक इसके विपरीत है। इसमें पदार्थ के रूप-परिवर्तन के बाद भी मूलकारण में कोई विकार नहीं आता। जैसे शुद्ध सुवर्ण के विभिन्न आभूषणों में परिवर्तित होने पर भी सुवर्ण में कोई विकार नहीं आता। वह आभूषण से पुनः अपने सुवर्ण के मूल रूप में आ सकता है। इसलिए यह अविकृत परिणाम कहलाता है। इसी प्रकार, शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, परन्तु ब्रह्म में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् शुद्ध ब्रह्म का

ही अविकृत परिणाम है। सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्म ही जगत् में विविध पदार्थों या नाम-रूपों से प्रकट होता है। यही ब्रह्म की अलौकिकत्व से लौकिकत्व और पुनः लौकिकत्व से अलौकिकत्व में अविकृत परिणति है। वस्तुतः, ब्रह्म और जीव-जगत् में कोई पार्थक्य नहीं है, वरन् दोनों में अद्वैतत्व है। इसलिए, अविकृत परिणामी ब्रह्म के बारे में कहा गया है **‘पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।’**

वल्लभाचार्य की इसी विशुद्धाद्वैत-भावना के परिप्रेक्ष्य में आचार्य शुक्लजी ने साधारणीकरण का विवेचन किया है। काव्य-जगत् में रस की स्थिति ब्रह्म के समान है। कविराज विश्वनाथ महापात्र ने ‘साहित्यदर्पण’ (परि. 3) में रस-विवेचन के प्रसंग में रसानुभूति को ‘ब्रह्मास्वादसहोदर’ तथा ‘अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय’ कहा है। यही रस के विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व है, जो इसी लोक की विशेष दशा (अवस्था) या प्रत्यक्षानुभूति का उदात्त और अवदात स्वरूप है। इस प्रकार की रसदशा में द्वैतत्व या अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् रसात्मक अनुभूति के क्षण में मानव-हृदय की ब्रह्मानन्द की व्यापकता के साथ अद्वैतता स्थापित हो जाती है। साधारणीकरण या अद्वैतता की इस स्थिति में ही तो हम काव्य में निहित विषय को केवल अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते या अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा नहीं, अपितु निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का अहं का विसर्जन उक्त प्रकार की अद्वैतता की स्थिति में ही सम्भव है। इसलिए हृदय की मुक्तदशा या निःसंगता या स्थिति में अनुभूत दुःख, शोक आदि विपरीत भाव भी रसात्मक हो जाते हैं, जीवानन्द और ब्रह्मानन्द, दोनों एकमेव हो जाते हैं और अपनी अविकृत परिणामवादिता के कारण ही ब्रह्मानन्द जीवानन्द का विषय होकर भी अविकृत ही बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि काव्य की रसभूमि जीवन और जगत् से पृथक् वस्तु नहीं, अपितु दोनों में नित्य तदात्मकता या अभिन्नता है। नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति की एक ऐसी अन्तर्भूमि होती है, जहाँ पहुँचने पर हमें भिन्नता में अभिन्नता या द्वैत में अद्वैत की उपलब्धि होती है, जिसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूलदेश या सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

वल्लभाचार्य के विशुद्धाद्वैत-मत के अनुसार, विषय-सम्बन्ध से रहित आत्मा का विशुद्धभाव ही मुक्ति है। आचार्य शुक्लजी ने आत्मा की इसी विशुद्धावस्था या मुक्तदशा को ज्ञानदशा कहा है। ‘रसमीमांसा’ में काव्य की साधना के सिद्धान्त के सम्बन्ध में विवेचना का विस्तार करते हुए शुक्लजी ने कहा है कि कोई मनुष्य जब तक अपनी पृथक् सत्ता की भावना को, जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखते हैं तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है और पृथक् सत्ता की यह धारणा जब विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाती है, तब वही मुक्तहृदय हो जाता है और आत्मा की यही मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है।

इस प्रकार, वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय ब्रह्मजीवैक्यवादी विशुद्धाद्वैत-दर्शन से अनुप्राणित अपने साहित्य-दर्शन में आचार्य शुक्ल ने काव्य-साधना को भावयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के समानान्तर मानते हुए व्यापक लोकानुभूति-योग का अभ्यास कहा है, जिसमें अनेकरूपात्मक जगत् के साथ अनेकभावात्मक हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है और मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता व्यापक लोकसत्ता में लीन हो जाती है। वल्लभाचार्य के मत से यही शुद्ध आत्मा और मुक्त हृदय द्वारा अधिगत की जानेवाली ब्रह्मविभूति की अनुभूति है, इसीलिए, ब्रह्म की इच्छासृष्टि की भाँति काव्य की रचना-प्रक्रिया कवि की गहनतम साधना-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। इसलिए कहा गया है

> अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापति।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत् परिवर्त्तते॥

(ध्वन्यालोक : उद्योत 3)

साहित्य और सामाजिक सरोकार

डॉ. नन्दलाल मेहता वागीश*

साहित्य और सामाजिक सरोकार विषय के प्रस्थापन और प्रवर्धन से पूर्व यह विचारण और निश्चयन आवश्यक है कि साहित्य के सन्दर्भ में सामाजिक सरोकार से आशय क्या है? समाज के वे कौन से सरोकार हैं जो साहित्य का प्रयोजन हो सकते हैं? यह जानना भी जरूरी होगा कि सामाजिक सरोकार के उपस्कर्त्ताओं की मनोरचना क्या है और उनके मनोमस्तिष्क में समाज की धारणा क्या है? इन प्रश्नों की तह में जाना विशेषकर इसलिए भी जरूरी है क्योंकि साहित्य प्रवर्तन के मूल में ‘व्यष्टिकेन्द्र से समष्टि केन्द्र’ का सम्प्रसरण एक प्रमुख कारक के रूप में जाना जाता है। ऐसे में साहित्य में सामाजिक सरोकार का नारा देनेवालों की बौद्धिक बुनावट को जान लेना और भी जरूरी है।

हिन्दी साहित्य में सामाजिक सरोकार का मुहावरा विगत शती के तीसरे-चौथे दशक में नमूदार हुआ। यह मुहावरा उस अर्थ-राजनीतिक चिन्तन से उभरा था जिसके परिणामस्वरूप सोवियत रूस में रक्तिम राज्यक्रान्ति घटित हुई थी। उस समय के भारत के पढ़े-लिखे कुछ युवकों और लेखकों के मन में सामाजिक परिवर्तन का एक ऐसा सम्मोहनकारी सपना पलने लगा था जहाँ उत्पादन के समग्र साधनों और आर्थिक स्रोतों पर सबका समान अधिकार होगा। व्यक्तिमन की जटिल संरचना और संस्कार-परिष्कार की सुदीर्घ साधना को समझे बिना समाज के वर्गण और विश्लेषण का जो आक्रामक फलसफा इस नए विचार के माध्यम से प्रस्तुत किया गया, उसके प्रभावस्वरूप हिन्दी साहित्य में एक ऐसी धारा का सूत्रपात हुआ जिसके पीछे राजनीतिक सरोकारों की प्रेरणा थी। आयातित चिन्तन से समाज-संरचना का उथला विश्लेषण था। सामाजिक सामरस्य के मूल मानवीय बिन्दुओं को धता बताकर समाज को हठात् दो वर्गों में विभक्त हुआ दिखाने की खण्डित मानसिकता थी। सामाजिक सरोकार और युगीन यथार्थ के नाम पर जन-आक्रोश, जनसंघर्ष, जनक्रान्ति, जनमुक्ति, जनहित, शोषक, शोषित, सर्वहारा, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, जन-आन्दोलन, जन-एकता, जनवाद, प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी, फासिस्ट और बुर्जुआ जैसे नारेनुमा भावहीन शब्दों को साहित्य में परोसा जाने लगा और ऐसी अभिव्यक्ति को साहित्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड घोषित कर दिया गया। ‘सर्वात्मभाव और सर्वे भवन्तु सुखिनः’ की मंगलकामना में कृतार्थ होनेवाली भारतीय मन की भावसाधना का तिरस्कार करनेवाले इन स्वयंभू प्रगतिशीलों के लिए करुणा, दया, ममता, सहानुभूति, सत्य, अहिंसा और सहवर्तित्व के मानवीय मूल्य गैर-प्रासंगिक हो गए।

साहित्य मूलतः आस्वाद्यमूलक विधा है, जिसमें विचार को भी भावधारा में स्नात होकर ग्राह्यता पानी होती है। देशकालिक सन्दर्भ भी रागात्मक संगति में व्यक्त होते हैं। ऐसे में यह स्पष्ट है कि साहित्य के सामाजिक सरोकार वे नहीं हैं जिन्हें स्वयंघोषित प्रगतिशीलों ने प्रचारित किया है। साहित्य के सामाजिक सरोकार तो वे मानवीय मूल्य हैं जो हर देश और हर युग में मनुष्य-हृदय को निजी राग-द्वेष से मुक्त कर उसे शेष जगत् के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करने की रागात्मकता से धन्य करते हैं। ऐसे मानवीय मूल्यों में सत्य, प्रेम, क्षमा, दया, करुणा, स्नेह, अनुराग, वात्सल्य, धीरता-वीरता, अहिंसा, औदार्य, मैत्री, सहयोग, संयम, कर्तव्य-पालन, व्यवहार-माधुर्य और सवर्भूत हितैषिता जैसे लोक हितकारी मनोभाव लक्षित किए जा सकते हैं। वे सभी मानवीय मूल्य सत्य, शिव और सुन्दर महाभाव-समष्टि की आचरणमूलक अभिव्यक्तियाँ हैं।

भारतीय साहित्य-दृष्टि, मानवीय मूल्यों की सामाजिक चिन्तना से संभृत है। ऐसे में साहित्य शब्द में निहित अर्थ-व्यंजना का भाव न करने के लिए साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति को जान लेना आवश्यक है। साहित्य शब्द सहित के भाववाचक संज्ञा-रूप में निष्पन्न होता है। सहित शब्द का निर्वचन दो दृष्टियों से हो सकता है (1) सहभाव से युक्त अर्थात् सहित (2) हित सहित अर्थात् सहित। सहभाव का अर्थ है साहचर्य। अभिप्राय यह कि साहित्य में शब्द और अर्थ, भाव और विचार, कथ्य और शिल्प, लोक और शास्त्र, व्यक्ति और समाज, यथार्थ और आदर्श, अतीत और भविष्य, दूर और निकट तथा दृश्य और अदृश्य का साहचर्य घटित होता है। नैर्वचनिक दृष्टि से सहित शब्द का दूसरा अर्थ हैहित सहित। हितेन सह वर्तते इति सहितम् तस्य भावः साहित्यम्। निर्वचन की यह दृष्टि तो सीधे-सीधे सामाजिक मंगल से जुड़ी ही है, साहचर्य भावमूलक साहित्य शब्द का निर्वचन भी व्यक्ति और समाज के सम्बद्धभाव से जुड़ा है। स्पष्ट है कि साहित्य शब्द की संरचना में ही उसका सामाजिक सरोकार निहित है। ‘कला कला के लिए’ एकांगी यूरोपीय मतवाद में भी ‘मन के रंजन’ की स्वीकार्यता तो है ही। यह भी प्रकारान्तर में साहित्य की सूक्ष्म सामाजिक उपयोगिता का स्वीकरण है। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि साहित्य अपनी संरचनात्मक प्रकृति से ही समाजोन्मुखी होता है।

शास्त्रज्ञ आचार्यों ने साहित्य के प्रयोजन पर विस्तृत विचार-मंथन किया है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत मुनि के अनुसार नाटक (साहित्य) का उद्देश्य

---

*डॉ. नन्दलाल मेहता ‘वागीश’ लेखक एवं चिन्तक हैं। शब्दालोक-1218, सैक्टर 4, गुड़गाँव।

हैदुःखार्त श्रमार्त और शोकार्त लोकजन को विश्रान्ति प्रदान करना। आचार्य भामह की दृष्टि में पुरुषार्थ चतुष्टय, कला, कौशल्य तथा प्रीति व कीर्ति की प्राप्ति करना ही साहित्य (काव्य) का लक्ष्य है। आचार्य मम्मट ने काव्य (साहित्य) के जिन छह प्रयोजनों का उल्लेख किया है उनमें से चार प्रत्यक्षतः लोकपक्ष से सम्बद्ध हैं

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

यदि यश और अर्थ को कवि-पक्ष का प्रयोजन मानकर चर्चित न भी किया जाए तो भी व्यवहार ज्ञान, अकल्याण निवारण, तत्काल आनन्द प्राप्ति और कान्तानुरूप मधुरवाक्, ये चार प्रयोजन ऐसे हैं जो साहित्य की लोकवृत्ति का निरूपण करते हैं।

हिन्दी के अनेक काव्यशास्त्रियों, आचार्यों और कवियों सहित प्लेटो, रस्किन और टालस्टाय ऐसे प्रमुख पाश्चात्य चिन्तकों ने भी साहित्य के लोकमंगल-पक्ष का प्रतिपादन किया है। कला से प्राप्त मानसिक आह्लाद से भी एक प्रकार से सामाजिक सुख-शान्ति और सौमनस्य की भावना सम्प्रसरित होती है। सुतराम् यह स्पष्ट है कि साहित्य का रचनात्मक उद्देश्य भावपद्धति के माध्यम से उदात्त जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठित करना और लोकमानस को सुसंस्कृत करना है। साहित्य के भावसिद्ध शब्द रमणीय रीति से व्यष्टि और समष्टि-चेतना को संस्कारित करते चलते हैं। इसीलिए महाकवि तुलसीदास ने साहित्य को गंगाजल की पवित्रता और हितकामिता से उपमित करते हुए कहा हैकीरति भनति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥ कविवर बिहारी के एक दोहे से प्रभावित मिर्जा राजा जयसिंह के कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ होने की लोकमान्यता साहित्य के सामाजिक सरोकार का उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत करती है।

इधर हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में सामाजिक सरोकार के प्रश्न उठानेवाले रचनाकार एवं आलोचक मूल रूप से कार्लमार्क्स के उस राजनीतिक दर्शन से अनुप्राणित थे, जिसे कम्युनिज्म कहा गया है। इसी राजनीतिक दर्शन का साहित्यिक संस्करण है प्रगतिवाद। स्वयं को प्रगतिशील और दूसरों को प्रतिगामी कहनेवाले इन रचनाकारों-आलोचकों की उद्भावक कल्पना और बौद्धिक बुनावट कैसी और किस प्रकार की है, यहाँ दिए गए दो-एक सन्दर्भों से उसका सहज अनुमान पाठक स्वयं लगा सकते हैं। प्रगतिवादी खेमे के एक अग्रगण्य कवि हैंकेदारनाथ अग्रवाल। प्रकृति के रम्य रूप की ऋद्ध सम्भावनाओं से ओत-प्रोत एक दृश्य-व्यापार को कवि ने अपने मनोभाव से कैसा रूप दे दिया है, यह दर्शनीय है

> चोली फटी सरस सरसों की
> नीचे गिरा फागुनी लहंगा
> ऊपर उड़ी चुनरिया नीली

> देखो हुई पहाड़ी विवसना।
> आतप तप्ता।
> (फूल नहीं रंग बोलते हैं)

उक्त पंक्तियों के अर्थभावन के लिए किसी दूरारूढ़ कल्पना की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति बिम्बना के ब्याज से कवि की कामकुंठा विवसना हो रही नारी की देहयष्टि में अटक गई है। पाठक स्वयं निर्णय करें कि प्रगतिशीलता का यह कैसा सामाजिक सरोकार है। प्रगतिशील दौर के दो और काव्य-उद्धरण अवलोकनीय हैं

(ख) असमत खोती चाँदी के चंद टुकड़े पाकर जब नारी
पास खड़े लोलुप कुत्तों से देखा करते अपनी बारी।
(ख) आज तो सालस पड़ी हो तन्वी मेरे सामने।
कल न जाने कौन जीवन धन तुम्हारे पास होगा?

कहना न होगा कि यहाँ नारी के यौन-शोषण से कविमन आक्रुष्ट या व्यथित नहीं है अपितु वह तो क्रियमाण दृश्यों का निस्संग चित्रण करने में ही अपने कवि-कर्म का कौशल दिखाना चाह रहा है। लगता है जैसे इन दृश्यों को शब्द-फोटो में कैद कर रहा है। बस इतना ही सरोकार है उसका। सम्भवतः ऐसे ही पाखण्डपूर्ण लेखन से खिन्न होकर प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. रामकुमार वर्मा ने सन् 1943 की 'सरस्वती' पत्रिका में कथित प्रगतिशीलों की स्थिति को विडम्बित करते हुए लिखा था

> मुख में सिगरेट या पान
> पारकर पाकेट में,
> दो तीन ग्रन्थ
> रशियन लिट्रेचर के कर में
> यह प्रगतिशील लेखक प्रशस्त।

रचना के साथ-साथ समीक्षा-क्षेत्र में भी सामाजिक सरोकार-वादियों की कैसी दृष्टि है, इसका निदर्शन आवश्यक है। कवि हरिवंश राय बच्चन की एक कविता हैबुद्ध और नाचघर। इस कविता की कुछ पंक्तियों को डॉ. रामविलास शर्मा ने व्यंग्य-उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। प्रसिद्ध प्रगतिशील समीक्षक डॉ. नामवर सिंह की दृष्टि में उद्धृत पंक्तियाँ व्यंग्यगर्भित नहीं हैं। हमारा सरोकार यह नहीं है कि इन काव्य-पंक्तियों में व्यंग्य अन्तर्ग्रथित है या नहीं हमारे सरोकार का विषय तो डॉ. नामवर सिंह की वह टिप्पणी है जिसमें वे दिखते हैं'माना कि इसमें अमीरों और रईसों की आलोचना है और इस दृष्टि से यह कविता भी प्रगतिशील कही जा सकती है।' यानी प्रगतिशील कहलाए जाने का एक सरल-सा सूत्र है कि आप अमीरों और रईसों की आलोचना करें। विचारणीय पक्ष यह है कि अमीरों और रईसों की आलोचना करना ही यदि प्रगतिशीलता का मानदण्ड है तो फिर इस तर्काधार पर अमीरों और

रईसों के लिए अपशब्द कहने-लिखनेवाला तो सबसे बड़ा प्रगतिशील लिक्खाड़ सिद्ध हो जाएगा। आख़िर अपशब्द हमारे मानसिक आक्रोश का उग्र परिपाक ही तो है।

दुःख की बात तो यह है कि कथित प्रगतिशील समीक्षकों ने साहित्य में सर्वसामान्य मानवीय मनोभावों की कलात्मक अभिव्यक्ति की अपेक्षा वर्ग-विद्वेष, आलोचना और अपशब्दण की विकृति को ही प्रगतिशीलता के आधार के रूप में पुष्ट किया। ऐसे ही आधारपुष्ट समीक्षकों की टिप्पणियों और निष्कर्षों का यह परिणाम निकला कि साहित्यक्षेत्र में गैर-साहित्यिक शब्दावली की घुसपैठ कराई गई। ऐसी घृणाव्यंजक सिक्काबन्द शब्दावली गढ़ी गई, जिसका साहित्य-कर्म से दूर-दूर तक भी नाता ना था। जैसेबुर्जुआ, प्रतिक्रियावादी, साम्राज्यवादी, सत्ता-दलाल, जनखा, कुत्ता और न जाने क्या-क्या? वस्तुतः ऐसी शब्दावली उनकी विकलांग मानसिकता की परिचायक है। मार्क्सवाद के एक ऐसे ही बौद्धिक गुलाम ने पिछले दिनों 'श्री हनुमान' को दुनिया का पहला आतंकवादी करार दिया। उनकी इस फतवेबाजी पर किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। आखिर वह उसी मानसिकता का ही अनुचर है जिसने महात्मा गाँधी को साम्राज्यवादियों का दलाल और क्रान्तिवीर सुभाषचन्द्र बोस को 'तोजों का कुत्ता' कहा था, भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के विरुद्ध सन् 1942 में अंग्रेजों के लिए मुखबिरी की थी और सन् 1962 की हमलावर चीनी फौजों को मुक्ति सेना की संज्ञा से नवाजा था। यह राष्ट्रनिन्दक प्रवृत्ति आज भी सक्रिय है। स्वातन्त्र्य वीरों की नाम पट्टिकाएँ उतरवाना, आक्रान्ताओं में महानता की तलाश करना और राष्ट्रीय इतिहास-पुरुषों को कलंकित करने के प्रयास करना इसी रोग के विषाणु हैं। जान-बूझकर तथ्यों को उनके मूल सन्दर्भो से विचलित करना, गंदे वक्तव्य देना और बात-बात में फतवेबाजी पर उतर आना, इन दासबुद्धि प्रगतिशीलों की फितरत है। अपनी मानसिक विकृति के अनुरूप पहले अपशब्द गढ़ना और फिर अपने से असहमत जन को आलम्बन बनाकर उन अपशब्दों को उस पर चस्पां कर देना, इन मार्क्सवादी विचारकों का चारित्रिक वैशिष्ट्य है, बात फिर चाहे साहित्यक्षेत्र की हो, समाज की हो या फिर राजनीति की। इसलिए प्रसिद्ध लेखक श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का यह कथन आज भी उतना ही सार्थक है कि 'प्रगतिवाद के लिए देशकाल के दायित्व से भी बढ़कर पार्टी का नारा है।'

तथ्य-विचलन और विद्रूषण के रूप में 'आज का पाठ' हिन्दी-कहानी-संकलन एक सटीक उदाहरण है। यह संकलन 'सफदर हाशमी मैमोरियल ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित है और इस संकलन का सम्पादन किया हैज्ञातनामा मार्क्सवादी समीक्षक विष्णु नागर और असद जैदी ने। इस संकलन के प्रस्तावना-अंश में 'हिन्दू साम्प्रदायिक उभार' पर चिन्ता व्यक्त मुद्रा में कोष्ठगत टिप्पणी है'नवम्बर 1984 के सिख-विरोधी दंगे मत भूलिए।' आज जबकि नानावती आयोग ने क्रूरकर्मा हत्यारों को बेनकाब कर दिया है तो यह सत्य किसी से छिपा नहीं है कि इन नृशंस हत्याओं के लिए कौन जिम्मेवार थे। यह स्पष्ट है कि ये दंगे नहीं थे, सिखों के विरुद्ध नियोजित नरसंहार

था। तो भी सम्पादकद्वय जान-बूझकर इन शर्मनाक घटनाओं को 'दंगे' कहकर तथ्यविचलन कर रहे हैं, ताकि दंगे के दो पक्ष कल्पित हों। एक पक्ष के रूप में सिख भी कहीं कसूरवार समझे जाएँ और दूसरे पक्ष के रूप में 'हिन्दू साम्प्रदायिक उभार' पर यह आरोप चस्पाँ हो जाए। जबकि यह तथ्य दिन के सूर्य की तरह स्पष्ट है कि सनातन हिन्दू-संस्कार, सिख समाज को अपना अभिन्न अंग मानता है। इसीलिए आज भी दोनों के बीच रोटी-बेटी का रिश्ता है। पर सम्पादकद्वय ठहरे प्रगतिशील समीक्षक, इसलिए विभेद और विद्वेष पैदा करने के लिए आदतन सचेष्ट हैं। कौन नहीं जानता कि नरपिशाच हत्यारों को उकसाने वालों के पीछे उन दिनों और आज भी यही स्वयंभू प्रगतिशील खड़े हुए हैं।

निष्पक्ष साहित्येतिहासकार अब यह मानने लगे हैं कि सन् 1935 के बाद के हिन्दी साहित्य के चार दशकों के भटकाव के लिए कथित प्रगतिशील रचनाकार और समीक्षक सीधे-सीधे उत्तरदायी हैं। दुर्भाग्य से इस वर्ग के लेखक-समीक्षक एक बँधे-बँधाये वर्ग-चिन्तन से कभी बाहर नहीं आ सके। उनका सम्पूर्ण लेखन और समीक्षण मार्क्सवाद के बँधुआ मजदूर-कर्म जैसा है। गैर-साहित्यिक रचना को साहित्यिक और साहित्यिक रचना को गैर-साहित्यिक करार देना, मनमाने सन्दर्भ-कथन करना और किसी कवि-लेखक का वैचारिक अपहरण कर उसके लेखन में प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के शिखर ढूँढ़ना मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति के विशिष्ट लक्षण हैं। वैचारिक दृष्टि से प्रगतिशील समीक्षकों ने सबसे पहले कवि 'निराला' का अपहरण किया और उन्हें प्रगतिवाद का पुरोधा घोषित कर दिया। वे यह भूल गए कि निराला के मनस्तत्त्व का निर्माण स्वामी रामकृष्ण परमहंस की शिष्यमंडली के वेदान्ती साधुओं के सान्निध्य और स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन-दर्शन के अध्ययन का परिणाम था। इन्हीं के खेमे के एक निष्पक्ष-चिन्तक विद्वान डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला की साहित्य-साधना पर कवि तुलसीदास के प्रभाव को खुले मन से स्वीकार किया है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि निराला काव्य के केन्द्रीय चरित्र 'राम' हैं, प्रिय कवि तुलसीदास हैं, न कि कबीर या कोई और। वस्तुतः निराला का विद्रोह भी मानवता के प्रति भारतीय दृष्टि के गहरे राग और करुणा का प्रतिफल है। निराला की सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य मनोभाव, वेदान्त-चिन्तन, उपनिषद और गीता-दर्शन से स्वरूपित हुई है। उनके 'तुलसीदास' नामक खण्डकाव्य में मुगलों के अत्याचारों और इस्लाम के सैनिक आक्रमणों का जैसा बेबाक चित्रण हुआ है, वह उनके जातीय और राष्ट्रीय चिन्तन को इंगित करता है। चाहे 'राम की शक्तिपूजा' हो या 'जागो फिर एक बार', 'महाराज शिवाजी का पत्र' हो अथवा 'भारतीय जय-विजय करे' या फिर 'वर दे वीणा वादिनि, वर दे' गीत हो; सर्वत्र भारतीय सांस्कृतिक सन्दर्भों की व्याप्ति दृष्टिगत होती है। यहाँ तक कि जिस 'कुकुरमुत्ता' को कम्युनिस्टों ने अपने पक्ष में भुनाने की कोशिश की है उसमें 'विष्णु का सुदर्शन चक्र', 'जसोदा की मथानी', 'बलराम के कंधे पर पड़ा हल',

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और कवि भास के सन्दर्भोल्लेख हैं। सच बात तो यह है कि निराला की सम्पूर्ण संवेदना और भाषा भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों से निर्मित हुई है। यूँ भी कम्युनिज्म एक अर्थतन्त्र और समाज-रचना का विचार-दर्शन है तो साहित्य समष्टिगत मानवीय भावभूमियों की कलात्मक अभिव्यक्ति है। दोनों के मिजाज और सरोकार अलग-अलग हैं। कम्युनिस्ट मनोवृत्ति से सच्चे साहित्य का सृजन नहीं हो सकता और साहित्य के सर्जनात्मक मनस्क्रिया-काल में कम्युनिस्ट रह पाना संभव हो नहीं सकता।

ऐसा नहीं है कि कथित प्रगतिवादी आन्दोलन में सामाजिक चेतना की हृदयग्राही कविताएँ लिखी ही नहीं गईं; जरूर लिखी गईं और प्रकाशित भी हुईं किन्तु ऐसी रचनाओं का अन्तस्सत्य तो यह है कि जब-जब कवि की उद्‌भावना संकुचित राजनीतिक मतवाद से मुक्ति पाकर लोक-सामान्य मानवीय भावभूमि पर स्पन्दित हुई केवल तभी ऐसी मार्मिक रचनाएँ अस्तित्व में आईं, ऐसी रचनाओं का सरोकार सम्पूर्ण मानवता से था न कि वर्गवाद से। ऐसी कविताओं में मानव-आत्मा से उद्‌भूत जीवन-सत्य था जिससे मानव गरिमा को प्रतिष्ठा मिलती थी। यह एक चिरंतन सत्य है कि हर युग का प्रामाणिक कवि अपने कवित्व-संस्कार से ही प्रगतिशील होता है। इसलिए उसके शब्द अपने युग के पुनर्नवा सन्दर्भों और अनुक्त अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ होते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य में सामाजिक सरोकार का हल्ला मचाकर जिन लोगों ने सृजनशीलता को विपथगामी किया उनकी बौद्धिक बुनावट के रेशे एक आयातित सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन के रंग में रंगे हैं। मूलतः उनकी सोच नकारात्मक है। साहित्य सृजन के लिए जिस स्वस्थ और सकारात्मक मनोभूमि की आवश्यकता है, यह मनोरचना उसके विपरीत है। नाली की गंदगी से चिन्तित होना और गंदगी का विज्ञापन करना, ये दो अलग-अलग मनोवृत्तियाँ हैं। यथार्थवाद की आड़ में इन स्वयंभू सरोकारवादियों की नीयत गंदगी उलीचने की है। यह तमाशा करने और देखने की प्रवृत्ति है। सामाजिक दृष्टि से यह अक्षम्य अपराध है।

पुस्तक-समीक्षा : एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण

डॉ. विष्णुदत्त शर्मा*

विश्व में जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, विचारधाराएँ हैं और समाज एवं उनका साहित्य है सभी में गुण तथा अवगुण दोनों ही विद्यमान होते हैं। यह अवश्य है कि किसी में गुण अधिक हैं तो किसी में अवगुण अधिक, और यह निर्भर करता है देखने एवं परखने वालों के दृष्टिकोण पर। आलोचकों की योग्यता, मानसिकता और विवेचनात्मक क्षमता पर उसके गुण-अवगुण अत्यधिक आधारित हैं। अतः गुण-अवगुण की पूर्णरूपेण विवेचना करने को ही आलोचना या समीक्षा कहते हैं। आलोचना के समानार्थी अन्य शब्द हैंसमीक्षा, विवेचना, टीका-टिप्पणी, पुनरीक्षण, नजरसानी तथा रिव्यू आदि।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'आलोचना' शब्द का उपसर्गपूर्वक 'लोच' धातु में 'ल्यट' और तदनन्तर स्त्री-अर्थ में 'टाप्' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार यद्यपि 'आलोचना' शब्द संस्कृत-व्याकरण के अनुरूप है तथापि हिन्दी-साहित्य में विधा-विशेष के रूप में उस पर अंग्रेजी के 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' की छाप स्पष्ट है। 'क्रिटिसिज्म' शब्द की निष्पत्ति ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' से मानी गई है जिसका अर्थ विवेचन करना अथवा निर्णय देना है। स्पष्ट ही संस्कृत तथा ग्रीक शब्दों के अर्थों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, वे दोनों ही प्रायः एक ही अर्थ का विवेचन करते हैं।

आलोचना की परिभाषा देते हुए हिन्दी साहित्यकार बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है'साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों की विवेचना करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।...यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा प्रकट आलोचना की यह परिभाषा ऐसी है, जिसे स्वीकार करने में कदाचित किसी भी विद्वान को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

अपने भावों को प्रकट करने के लिए मनुष्य ने जिन साधनों को अपनाया है उनमें से एक सशक्त साधन हैसाहित्य। साहित्य को भी दो श्रेणियों में विभक्त

---

*महासचिव, शोधप्रकाशन अकादमी, 5/48, वैशाली, गाजियाबाद-201012

किया जा सकता है(1) सृजनात्मक साहित्य तथा (2) वैज्ञानिक साहित्य। सृजनात्मक साहित्य में कल्पना शक्ति की प्रचुरता होती है जबकि वैज्ञानिक साहित्य तथ्यों पर आधारित होता है।

मनुष्य स्वभाव से ही नवीनता का प्रेमी होता है। कारण हैउनकी स्वाभाविक जिज्ञासा, उत्सुकता और नए के प्रति प्रेम भाव। जीवन की भाँति वह साहित्य के क्षेत्र में भी नवीनता को पाने के लिए लालायित रहता है। वह केवल 'संचित' से आनन्दित नहीं होता वरन् उसमें परिवर्तन करता है, परिवर्तन में 'नवीनता' के दर्शन करता है और इसी नवीनता-दर्शन में आनन्द प्राप्त करता है। कहना न होगा कि इसी नवीनता-प्रेम की पूर्ति हेतु साहित्य में विविध विधाओं का जन्म होता है। एक समय था जब साहित्य की रचना पद्य में होती थी इसके बाद चम्पूकाव्य और फिर गद्य में होने लगी। रचना-स्वरूप के आधार पर विद्वानों ने सृजनात्मक गद्य विधा के कई उपभेद स्वीकार किए हैं, यथाकहानी, उपन्यास, निबंध, आलोचना (समीक्षा), जीवनी, पत्रसाहित्य, गद्य गीति, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा-वर्णन, डायरी, संस्मरण, साक्षात्कार, परिसंवाद, संलाप, परिचर्चा, स्वोक्ति (मोनोलाग), भावनाट्य (फैंटेसी) आदि। किन्तु वैज्ञानिक गद्य विधा के उपभेद इस प्रकार हैं

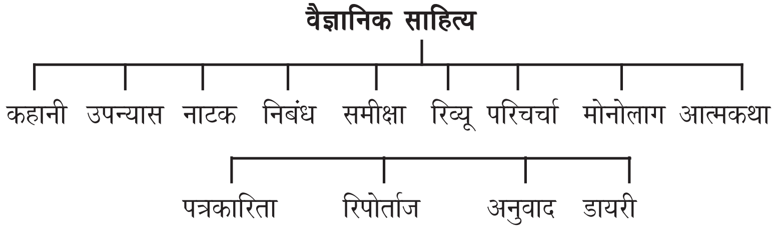

यह सर्वमान्य है कि अधिकतर भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा है। संस्कृत-साहित्य में आलोचना का अत्यन्त प्रौढ़ रूप उपलब्ध होता है, अतः सर्वप्रथम संस्कृत की आलोचना-पद्धतियों को देख लेना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पाणिनि के व्याकरण के सूत्रों की रचना (600-300) वर्ष ईसा पूर्व हुई थी और सर्वप्रथम इन सूत्रों की व्याख्या 300 वर्ष ईसा पूर्व **वररुचि कात्यायन** ने की थी जिसको पुस्तक-समीक्षा का शुभारम्भ माना जा सकता है। इसके पश्चात **शबर** ने 200 वर्ष ईसा पूर्व में **जैमिनि** के पूर्व मीमांसासूत्र की टीका लिखी। इस भाष्यकार के पश्चात तो पुस्तक-समीक्षाओं का किसी-न-किसी रूप में प्रकाशन होता ही रहा है। इस प्रकार 2600 वर्ष की अवधि में क्रमशः संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य का सृजन होता रहा। किन्तु पुस्तक-समीक्षाओं का दौर निरंतर विकसित होकर नई-नई विधाओं ने जन्म लिया।

अध्ययन करने पर पाया गया कि संस्कृत में छः प्रकार की आलोचना पद्धतियाँ प्रचलित थीं(1) आचार्य-पद्धति (2) टीका-पद्धति (3) शास्त्रार्थ-पद्धति (4) सूक्ति-पद्धति (5) खण्डन-पद्धति तथा (6) लोचन-पद्धति। उत्कृष्ट समझे जानेवाले लक्ष्य-ग्रंथों को रस, अलंकार आदि सुन्दर उदाहरणों के रूप में, और निकृष्ट समझे जानेवाले ग्रंथों को अधम काव्यों या दोषों के रूप में उद्धृत करके उनके गुण-दोषों की यथोचित समीक्षा आचार्य-पद्धति के अन्तर्गत मानी जाती है। आलोचना की टीका-पद्धति में किसी साहित्यिक कृति की टीका करते समय टीकाकार कवि के आशय को तो स्पष्ट करता ही था, साथ ही उसे उसकी उक्तियों की विशेषताओं तथा रस, ध्वनि, अलंकार आदि का भी उल्लेख करना पड़ता था।

जैसा कि मैं बतला चुका हूँ कि सबसे पहले साहित्य की रचना पद्य (काव्य) विधा में थी, अतः स्वाभाविक है कि आलोचना कवियों एवं काव्यों से सम्बन्धित थी। शास्त्रार्थ-पद्धति में आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्य से असहमत होने की स्थिति में उसकी उक्तियों का अत्यन्त प्रबल तर्कों से खण्डन करता था और अपने मत का मण्डन करता था। सूक्ति-पद्धति के अन्तर्गत संस्कृत काव्यों एवं कवियों के विषय में प्रशंसात्मक उक्तियाँ आती हैं। खण्डन-पद्धति पूर्णरूपेण दोष-दर्शन की प्रणाली है। लोचन-पद्धति में आलोचक आलोच्य विषय के अर्थ को पूर्णतया हृदयंगम कराकर रचना की अन्तर्दृष्टि की विशद समीक्षा करता था। संस्कृत की आलोचना-पद्धतियाँ लिखने का मेरा तात्पर्य यह है कि थोड़े-बहुत अंशों में हिन्दी साहित्य में आज भी ये पद्धतियाँ प्रचलित हैं।

हिन्दी-आलोचना अथवा समीक्षा आधुनिक रूप में वर्तमान युग की ही देन है। आदि काल अर्थात् वीरगाथा काल (994-1320 ई.) एवं भक्तिकाल (1320-1645 ई.) में संस्कृत काव्य-शास्त्र ही कवियों के लिए प्रेरणा स्वरूप रहा। रीतिकाल (1645-1845 ई.) में समीक्षा प्रणालियाँ अवश्य मिलती हैं। अधिकांश रीति कवियों ने किसी-न-किसी लक्षण-ग्रंथ की रचना अवश्य की है। रीतिकालीन कवियों में हमें उन सब आलोचना-पद्धतियों का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है जिनका विकास आधुनिक युग अथवा गद्यकाल (1900 ई...) में हुआ है। इतना अवश्य है कि उनका प्रारम्भिक रूप संस्कृत की पद्धतियों से अधिक प्रभावित है।

यह सर्वमान्य है कि हिन्दी-आलोचना का विकास आधुनिक युग में हुआ है। विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ दूरस्थ देश एक-दूसरे के प्रतिवेशी से बन गए हैं। ऐसी स्थिति में एक देश की सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य का दूसरे देश पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। फलस्वरूप अनुवाद-विधा का जन्म हुआ। यह अनुवाद-विधा अधिकतर वैज्ञानिक साहित्य में ही लाभदायक रही न कि सृजनात्मक साहित्य में, क्योंकि वैज्ञानिक साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित है जबकि सृजनात्मक साहित्य केवल राष्ट्रीय स्तर पर।

हिन्दी-आलोचना भी पश्चिम से प्रभावित हुई है और उसने संस्कृत की आलोचना-परम्परा तथा पाश्चात्य-परम्परा के मध्य सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। परिणामस्वरूप उसमें विभिन्न पद्धतियों का जन्म होना स्वाभाविक है। सामान्यतया तो हिन्दी-आलोचना को दो ही वर्गों में रखा गया है(1) सैद्धांतिक तथा (2) व्यावहारिक। व्यावहारिक आलोचना के अन्य अनेक प्रभेद किए गए हैं, जिनमें मुख्य हैं (1) प्रभाववादी समीक्षा, (2) व्याख्यात्मक समीक्षा, (3) वैज्ञानिक समीक्षा तथा (4) निर्णयात्मक समीक्षा।

सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में **भारतेन्दु** परिवर्तन और विकास के समर्थक थे। व्यावहारिक समीक्षा का प्रणयन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ। इन विभिनन पत्रों में परिचयात्मक एवं सामान्य कोटि की आलोचना होती थी किन्तु धीरे-धीरे यहीं से आलोचना में गम्भीरता आने लगी। **भारतेन्दु** द्वारा सम्पादित **‘हरिश्चन्द्र मैगजीन’** में प्रायः इसी प्रकार की समालोचनात्मक टिप्पणियाँ होती थीं। **बालकृष्ण भट्ट** द्वारा प्रकाशित ‘हिन्दी प्रदीप’ एवं **प्रेमधन जी** द्वारा प्रकाशित **‘आनन्द कादम्बिनी’** ने इस आलोचना-विधा को अधिक गम्भीरता प्रदान की। सन् 1897 ई. में नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन के साथ हिन्दी में गवेषणात्मक एवं समालोचनात्मक निबंधों का प्रकाशन आरंभ हुआ, जिन्होंने हिन्दी समीक्षा को गति दी। इस प्रकार भारतेन्दु-युग वस्तुतः हिन्दी समीक्षा का प्रयोगकाल सिद्ध हुआ।

प्रभाववादी समीक्षा के अन्तर्गत आलोचक किसी साहित्यकार की कृति का अध्ययन करते समय उस कृति की भाव-लहरी में बह जाता है और फिर उस पर जैसा प्रभाव पड़ता है उसे अपनी रुचि के अनुरूप व्यक्त कर देता है। इस प्रकार की समीक्षा में आलोचक किसी लक्षण-ग्रंथ के नियमों पर पूर्णतया आसक्त नहीं होता। हिन्दी में **जैनेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी** आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं। इस प्रकार की आलोचना में आलोच्य ग्रंथ के साथ न्याय की आशा कम रहती है; क्योंकि इसमें आलोचक अपनी ही रुचियों-अरुचियों से प्रचालित होता है।

व्याख्यात्मक समीक्षा के अन्तर्गत आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों को त्याग कर एक अन्वेषक के रूप में साहित्यकार की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या और विवेचना करता है। इस प्रकार की आलोचना में साहित्यकार के साथ न्याय होने की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। वैज्ञानिक साहित्य में विज्ञान परिषद् प्रयाग के **प्रो. शिवगोपाल मिश्र, प्रेमचन्द श्रीवास्तव** तथा **डॉ. रमेशदत्त शर्मा,** हिन्दी साहित्य में काशी विद्यापीठ के **प्रो. वासुदेव सिंह**, इलाहाबाद के **प्रो. प्रभाकर द्विवेदी** ‘प्रभामाल’ आदि प्रमुख हैं। अतः इसी कारण यह पद्धति श्रेष्ठ मानी गई है।

वैज्ञानिक समीक्षा के दृष्टिकोण से साहित्यकारों की कृतियों की वैज्ञानिक आलोचना की जाती है। इस समीक्षा के अन्तर्गत ग्रंथ का मुख्य आधार ‘विषय’ होता है तथा वैज्ञानिक समीक्षा होने के कारण तथ्यों की ओर सजग रहा जाता है। ऐसे साहित्य में कल्पना शक्ति का समाहित होना स्वाभाविक है। विद्वान साहित्यकार **यमुनादत्त वैष्णव** ‘अशोक’ का उपन्यास **‘नियोगिता नारी’** इसी श्रेणी का है जिसकी मैंने समीक्षा लिखी तथा ‘आविष्कार’ पत्रिका (1989) में प्रकाशित हुई।

चौथे प्रकार की व्यावहारिक समीक्षा अर्थात् निर्णयात्मक समीक्षा में सामान्य शास्त्रीय नियमों के आधार पर आलोच्य ग्रंथ के गुण-दोषों का विवेचन कर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्यांकन किया जाता है और उन्हीं के अनुकूल उनको श्रेणीबद्ध भी कर दिया जाता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक की स्थिति एक न्यायाधीश की भाँति होती है। वह निर्णय देता है। उसकी जिज्ञासा ‘यह ग्रंथ कैसा होना चाहिए था’ के रूप में होती है। आज इसे अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी नहीं माना जाता क्योंकि सर्वविदित कहावत ‘सीख वाकौ दीजिये जाकौ सीख सुहाय’ चरितार्थ हो जाती है। प्रसंगवश मुझे स्मरण हो आया कि सन् 1980 के आस-पास दिल्ली में एक केन्द्रीय सरकारी निदेशालय ने भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र मुम्बई के वरिष्ठ वैज्ञानिक की एक परमाणु-विस्फोट विषयक (पाण्डुलिपि) समीक्षा हेतु मेरे पास भेजी और उस पर प्रकाशनार्थ अनुशंसा का निर्देश दिया। उस पाण्डुलिपि को मैंने टिप्पणी सहित लौटा दिया, क्योंकि उसमें वैज्ञानिक तथ्य अशुद्ध थे एवं अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के प्रतिकूल थे। अशुद्ध तथ्यों का पृष्ठानुसार शुद्ध करने के लिए मैंने कुछ विश्वकोशों (एनसाइक्लोपीडिआ ऑफ ब्रिटानिका आदि) का अध्ययन करने का परामर्श भी दिया था। आशाओं के विपरीत टिप्पणी देखकर वह वैज्ञानिक मुझसे नाराज हो गए, यद्यपि हिन्दी-विज्ञान क्षेत्र में किया गया वह लेखन कार्य सराहनीय था।

व्याख्यात्मक आलोचना के अन्तर्गत बाबू गुलाबराय ने सहायक रूप में उपस्थित होनेवाली अन्य आलोचना-पद्धतियों को भी स्वीकारा है। इनके नाम हैं(1) ऐतिहासिक, (2) तुलनात्मक, (3) मनोवैज्ञानिक, (4) समाजवादी और (5) अनुसंधानपरक आलोचना।

ऐतिहासिक आलोचना में साहित्यकार को आत्मा का मूल स्रोत ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में खोजा जाता है और तदनन्तर उस पर उन परिस्थितियों के प्रभाव को आँका जाता है; साथ ही साहित्यिक परम्पराओं के मध्य उसकी स्थापना भी की जाती है।

तुलनात्मक आलोचना के अन्तर्गत पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती साहित्यकारों के साथ लेखक और उसके साहित्य की तुलना कर उसके महत्त्व को स्थापित किया जाता है। इस प्रकार की आलोचना में साहित्यकार के साथ अन्याय भी हो सकता है; क्योंकि यह भी तो सम्भव है कि समीक्षक अपनी रुचि-विशेष से परिचालित होकर निर्णय दे रहा हो। कभी-कभी किसी कृति-विशेष पर कोई विवाद आलोचकों के मध्य खड़ा हो जाता है और आलोचक अपनी-अपनी रुचियों के अनुरूप एक-दूसरे को एक-दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयास किया करते हैं। इस प्रकार की आलोचनाएँ

लाभप्रद तभी हो सकती हैं जबकि आलोचक निर्णय करने में निष्पक्ष भाव से वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लें। यदि ऐसा करें तो निश्चय ही यह पद्धति व्याख्यात्मक के समान ही लाभप्रद प्रमाणित हो सकती है।

जहाँ रचनाकार के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों एवं प्रभाव को उसकी कृति के आधार पर परखा जाता है, वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना होती है। मनोवैज्ञानिक आलोचक साहित्यकार के स्वभावादि के ऊहापोह में इतना खो जाता है कि कृति की उपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार के आलोचकों की भाषा-शैली अत्यन्त दुरूह होती है।

समाजवादी आलोचना के अन्तर्गत सर्वप्रथम साहित्य को वर्ग-विशेष की उपज स्वीकार किया जाता है और फिर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन भौतिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। स्पष्टता इस आलोचना का मुख्य गुण है। इस प्रकार की आलोचना में सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें प्रायः राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखा जाता है। समाजवादी समीक्षक संघर्ष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा सामंतशाही के आधार पर आलोचना करते हैं। इससे साहित्यिकता की उपेक्षा हो जाती है।

अनुसंधानपरक आलोचना के अन्तर्गत शोधकार्य एवं अन्वेषणपरक आलोचना का विकास अभूतपूर्व गति से हो रहा है। अन्वेषण एवं अनुसंधान के क्षेत्र में **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के अनेक विषयों की प्रामाणिक खोज उन्हीं के द्वारा सम्भव हुई है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी का आदिकाल' इत्यादि उनकी अगाध खोजपूर्ण दृष्टि का की परिणाम है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों से होनेवाला शोधकार्य भी इसी के अन्तर्गत आता है। इन शोध कार्यों में **पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल** कृत 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', **रामशंकर शुक्ल रसाल** कृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास', **डॉ. विष्णुदत्त शर्मा** कृत 'रामचरितमानस में वैज्ञानिक तत्त्व', 'आर्ष साहित्य में मूलभूत विज्ञान' तथा 'प्रदूषण और रामचरितमानस', **हरिवंश कोछड़** का 'अपभ्रंश साहित्य' आदि कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाश में आए हैं। इस दृष्टि से हिन्दी आलोचना का यह भाग तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है।

संस्कृत साहित्य में प्रत्येक लिखित रचना लेख कहलाती थी। शिलाओं अथवा पत्रों पर खुदे प्रवचन, उपदेश आदि लेख कहलाते थे। लेख को साहित्य की विशिष्ट विधा के रूप में मान्यता अंग्रेजी साहित्य से ही मिली है। लेख अंग्रेजी के 'आर्टिकिल' शब्द का पर्यायवाची है तथा इसकी एक विशिष्ट कला तथा महत्त्व है। अंग्रेजी में आर्टिकिल अथवा लेख वह साहित्यिक रचना है, जो किसी समाचार-पत्र, साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रिका, सन्दर्भ-ग्रंथ में प्रकाशित होती है तथा जिसमें किसी विषय पर स्वतन्त्रता तथा स्पष्टता से विचार किया जाता है। कुछ विद्वान लेख को ही निबंध कह देते हैं किन्तु निबंध तथा लेख की शैली में पर्याप्त अन्तर है। इस प्रकार प्रकाशित निबंधों अथवा लेखों का संग्रह कर एक पुस्तक रूप में संकलन प्रकाशित किया जाता है। निबंध-विधा के अन्तर्गत वर्ष 2003 में मध्य प्रदेश से अखिल भारतीय दिव्य प्रतिष्ठा पुरस्कार से मेरी कृति 'भारतीय परम्पराओं की वैज्ञानिकता' सम्मानित की गई है। निबंध में विचार तथा भाव-तत्त्व के प्राधान्य के साथ-साथ संगठितता और एकान्विति अधिक रहती है।

जहाँ तक लेख का सम्बन्ध है, यह विषय-निष्ठ रचना अधिक है किन्तु इसमें निबंधन की अपेक्षा शैली-तत्त्व का अधिक प्राधान्य नहीं है। यदि लेखों में निबंध जैसी संगठितता, क्रमबद्धता, गम्भीरता, वैयक्तिकता का समावेश हो जाए तो वे निबंध की श्रेणी में आ जाते हैं। लेखों तथा निबंधों की तरह ही रिपोर्ताज का संकलन भी एक पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाता है। अतः रिपोर्ताज की पुस्तक सम्बन्धित समीक्षा लिखने के लिए अलग से मापदण्ड अपनाना होता है। निबंध हो या रिपोर्ताज, दोनों ही विधाओं में वस्तु, व्यक्ति, घटना, तथ्य आदि को विषय के रूप में ग्रहण किया जाता है।

निबंधकार अपने विषय को अधिकांश तर्क और विचार द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करता है, अपने विषय के विस्तार तथा वैविध्य और कल्पना के प्रयोग करने में स्वतन्त्र होता है, तो रिपोर्ताज-विधा की पुस्तक में वस्तुगत सत्य का उद्‌घाटन अनाविल (निर्मल) रूप तथा उत्साहपूर्ण और रोचक शैली में इस प्रकार होता है कि पाठक प्रतिपाद्य-विषय को सरसता से हृदयंगम करने में समर्थ होता है।

रिपोर्ताज की सफलता में उसकी शैली की सरसता, अनौपचारिकता, प्रभावपूर्णता तथा रोचकता का विशेष महत्त्व होता है। निबंध में विषय के प्रतिपादन तथा शैली सभी का महत्त्व होता है। इन दोनों विधाओं के विषय तथा अभिव्यक्ति की शैली में विशेष अन्तर है। निबंध के विषय तथा शैली में वैविध्य होता है, जबकि रिपोर्ताज के विषय में तो वैविध्य होता है किन्तु शैली प्रायः एक-सी ही होती है। इसकी शैली विचारात्मक एवं भावात्मक की अपेक्षा विवरणात्मक तथा वर्णनात्मक अधिक होती है। रिपोर्ताज का लेखक अपने विषय के वर्णन में निबंधकार की अपेक्षा अत्यधिक तटस्थ रहता है। इस विधा के अन्तर्गत मेरी कृति 'नारी और न्याय' वर्ष 2000-2001 में भारत सरकार द्वारा पं. गोविन्द वल्लभ पंत पुरस्कार से सम्मानित की गई है।

रिव्यू या पुस्तक-समीक्षा साहित्य की एक रचनात्मक विधा है। कभी-कभी इसको निबंध के अन्तर्गत भी मान लिया गया है, यद्यपि यह एक पूर्ण एवं स्वतन्त्र विधा है। सामान्यतः किसी कृति (पुस्तक) की सम्यक् व्याख्या, मूल्यांकन अथवा गुण-दोष विवेचन करना ही पुस्तक समीक्षा है। संक्षिप्तता, अन्विति या एकता, तटस्थता, लेखक की सहनशीलता एवं प्रबुद्धता और कृति के अनुसार भाषागत विविधता आदि इसकी अपनी सामान्य विशेषताएँ हैं। जब समीक्षक अपनी पाठकीय

प्रक्रिया से अलग होकर पुष्ट और परिपक्व विचार सामने रखेगा, तभी वह रचनात्मक पुस्तक-समीक्षा का रूप ले सकेगी।

सामान्यतया, यह माना जाता है कि समीक्षा (आलोचना) और रिव्यू में कोई तात्विक अन्तर नहीं है; वस्तुस्थिति यह है कि जो अन्तर सम्पूर्ण चित्र और रेखाचित्र (स्कैच) में हैं वही अन्तर आलोचना और रिव्यू में है। आलोचना में समग्र दृष्टि का निर्वाह रहता है और रिव्यू में खण्डित दृष्टि का। यह खण्डित दृष्टि कोई दोष नहीं है अपितु आवश्यकता के अनुरूप एक सुनियोजित दृष्टि है जो अपने परिप्रेक्ष्य का उचित मूल्यांकन करने में समर्थ होती है। निःसंदेह इस विधा के अंकुर भारतेन्दु-युग में ही मिल जाते हैं किन्तु इसको स्वतन्त्र-मान्य रूप स्वातन्त्र्योत्तर-काल में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही प्राप्त हुआ है। साहित्यकार की भाँति आलोचक का व्यक्तित्व प्रायः गौण होता है, केवल जीवन, जगत तथा साहित्य के प्रति उसका दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। सही समीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह वादों (मित्रवाद, भाई-भतीजावाद, जातिवाद) के घेरे से मुक्त हो और व्यक्तित्व तथा कृतित्व का संतुलन स्थापित करे। बिना पूर्वाग्रह के पुस्तक-समीक्षा का लिखना निष्पक्षता दर्शाता है।

बाबू गुलाबराय ने आलोचना का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है कि आलोचना का मूल उद्देश्य साहित्यकार की कृति का सभी दृष्टियों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वादन में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है। इससे बढ़कर और वास्तविक उद्देश्य हो भी क्या सकता है। इसमें सभी बातें आ जाती हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा आलोचना के सामान्यतः दो मुख्य उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं(1) सत्‌साहित्य के सृजन को प्रोत्साहन देना तथा (2) असत्‌ साहित्य का निराकरण। किन्तु इन उद्देश्यों के अतिरिक्त भी आलोचना का कुछ उद्देश्य होता है। एक अच्छा आलोचक अपने समकालीन कवि या लेखक की कृतियों की स्पष्ट आलोचना कर उसके मार्ग को प्रशस्त करता है। प्रसंगवश याद आया कि हिन्दी विज्ञान-लेखन के क्षेत्र में अभी तक किसी भी लेखक ने आत्मकथा-विधा के अन्तर्गत वैज्ञानिक कृति की रचना नहीं की। प्रयोग करने के ध्येय से मैंने अपनी आत्मकथा लिखी और एक आत्मकथा से सम्बन्धित घोषित पुरस्कार के अन्तर्गत आमंत्रण पर मैंने यह कृति प्रस्तुत कर दी। यह कृति साहित्यकारों को पसन्द नहीं आई क्योंकि मूल्यांकन करनेवाले साहित्यकारों को मौलिक विज्ञान का ज्ञान नहीं था। जबकि हिन्दी विज्ञान लेखन के क्षेत्र में विद्वान समीक्षक वैज्ञानिकों को इतनी पसन्द आई कि मेरी इस कृति ‘अनुरोधनामा’ को एक अनूठा प्रयास स्वीकारते हुए विज्ञान-लेखन में इसको नवीन विधा की जन्मदात्री माना गया। शीलाधर इंस्टीट्यूट ऑफ सॉयल साइंसिज (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के निदेशक पद को सुशोभित करनेवाले विद्वान वैज्ञानिक एवं साहित्यकार प्रो. शिवगोपाल मिश्र ने ‘आविष्कार’ पत्रिका (मार्च-2004) में प्रकाशित समीक्षा में लिखा है, “अनुरोधनामा में विज्ञान और साहित्य का जैसा संगम प्राप्त होता है उसमें बारम्बार स्नान करने की आवश्यकता है।...पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। एक विज्ञान लेखक की अपनी जीवनी होते हुए भी यह हर दृष्टि से उपयोगी है।”

वस्तुतः आलोचक और समीक्षक को बड़े ही निष्पक्ष भाव से किसी कृति का गुण-दोष विवेचन करना होता है। तभी वह अपने, कृतिकार तथा पाठक के साथ न्याय कर सकता है; अन्यथा यदि वह पूर्वाग्रह से ग्रसित हुआ तो वह किसी भी कृति के साथ न्याय नहीं कर पाएगा। उदाहरणार्थ डॉ. जॉनसन जैसा महान आलोचक भी अपने पूर्वाग्रहों के कठघरों में बन्द होने के कारण मिल्टन जैसे विश्व-विश्रुत कवि के साथ भी न्याय न कर सका। प्रख्यात वैज्ञानिक आइजक न्यूटन ने कहा था, “आलोचना करनेवाला ही सच्चा हितैषी होता है, चाहे वह मित्र हो या शत्रु।” अतः समीक्षक के लिए सभी आग्रहों से मुक्त और बहुज्ञ होना अनिवार्य है। अच्छा समीक्षक केवल आलोचक ही न हो बल्कि मार्गदर्शक भी बने और विशेषकर नव अंकुरित रचनाकारों के लिए प्रोत्साहन वर्धक बने तभी वह साहित्य के माध्यम से देश की सच्ची सेवा कर सकता है। आजकल आलोचक, साहित्यकार कम राजनीतिक ज्यादा है।

हिन्दी के वयोवृद्ध सेवी **पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी** (1857-1908) अपनी पुस्तक ‘आधुनिक हिन्दी का आदिकाल’ के पृष्ठ 243 में लिखते हैं, “जब तक हिन्दी साहित्यकार संकुचित रहेगा और अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, तकनीकी विषयों के लेखकों को अपनी बिरादरी में बराबर का दर्जा नहीं देगा तब तक स्थिति में सुधार होने की सम्भावना कम है। साहित्य संसार में उनकी उतनी ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए जितनी सृजनात्मक साहित्य के रचयिताओं की होती है।” आज का साहित्यकार विज्ञान-लेखन से कतराता है क्योंकि उसे विज्ञान का ज्ञान नहीं है। यह बात प्रकाश में तब आई जब न्यूयार्क (अमेरिका) से प्रकाशित पुस्तक ‘लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना’ (ले. डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव) मेरे पास समीक्षा लिखने हेतु आई। इस पुस्तक का प्राक्कथन विद्वान हिन्दी साहित्यकार श्री कमलेश्वर जी ने लिखा है। यह दुर्भाग्य है कि हिन्दी साहित्यकार अभी भी हिन्दी विज्ञान लेखकों से न तो परिचित हैं और न ही उनको मान्यता देते हैं। अतः हिन्दी वाङ्मय तभी बढ़ेगा जब हिन्दी में विज्ञान विषयक मौलिक ग्रंथ रचे जाएँगे और उनके रचनेवालों को वही आदर प्राप्त होगा जो अन्य साहित्यकारों को मिलता है।

अतः साहित्यकार यदि राष्ट्रभाषा का हित चाहते हैं और उसका अधिकाधिक प्रचार चाहते हैं तो अपना दृष्टिकोण बदलें क्योंकि बिना तकनीकी ज्ञान के कोई भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति और राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। सृजनात्मक साहित्य के अन्तर्गत कहानी, उपन्यास, नाटक आदि समाज के दर्पण हो सकते हैं। किन्तु राष्ट्र की प्रगति के लिए वैज्ञानिक एवं तकनीकी साहित्य और तत्सम्बन्धित पुस्तक-समीक्षा का रचनात्मक होना अनिवार्य है।

पर्यावरण संरक्षण

डॉ. किशोरीलाल व्यास*

प्रतिदिन हम अपनी राष्ट्रमाता की वंदना करते हैं, बंकिमचन्द्र चटर्जी के शब्दों में :

वंदे मातरम्!
सुजलां, सुफलां,
मलयज शीतलां
शस्य श्यामलाम्। मातरम्। वंदे...

आज से एक शताब्दी पूर्व हमारा देश ऐसा ही था। देश ही क्यों, सारी धरती सुजलां, सुफलां थी। पर आज क्या हो गया है? मानव ने धरती माता का क्या हाल किया है?

किसी भी नदी, सरोवर या तालाब का जल 'सुजलां' नहीं रहा! सारी नदियाँ भयंकर रूप से प्रदूषित हो चुकी हैं। गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, जैसी बड़ी नदियाँ ही नहीं मूसी जैसी छोटी नदियाँ भी औद्योगिक धोवन, रसायनों और शहरों के कचरे तथा नालियों के कारण पूरी तरह से प्रदूषित हो चुकी हैं। आज किसी भी नदी का पानी सीधे पिया नहीं जा सकता।

दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, कानपुर, मद्रास, हैदराबाद, विशाखापट्टणम्, अहमदाबाद, भोपाल, सारे छोटे-बड़े शहर प्रदूषण से त्राहि-त्राहि कर रहे हैं।

कल जो खुशनुमा थे शहर
वे आज उगल रहे हैं जहर
ढा रहे हैं कहर
धुआँ ही धुआँ, धूल और गंदगी
भीड़ ही भीड़ है, सब परेशान हैं
ये कैसे शहर हैं, ये कैसे शहर?
शोर के समन्दर में जी रहे हैं सभी,
विषभरी हवाएँ पी रहे हैं सभी
यह बात रोज की हैं, आम है
कि सड़कों पर ट्रैफिक जाम है
न जाने कितने एक्सिडेंट कितनी मौतें
ये शहर नहीं, यांत्रिक कत्लखाने हैं!

हमारा देश आजाद हुआ तब देश की औसत 40% जमीन वनाच्छादित थी। धीरे-धीरे जंगल कटते गए। आज हमारे देश के केवल 11% जंगल रह गए हैं। वे भी तेजी से समाप्त होते जा रहे हैं। इसका प्रभाव हमारे वातावरण पर पड़ रहा है। हर वर्ष गर्मी बढ़ती जा रही है। बरसात कम होती जा रही है। लगातार सूखा पड़ रहा है। देश का आधे से अधिक हिस्सा सूखे का प्रकोप झेल रहा है। मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, तेलंगाना, रायलसीमा, कर्नाटक का पश्चिमी भाग आदि बरसों से सूखे का सामना कर रहे हैं। आन्ध्र प्रदेश का रायलसीमा इलाका और तेलंगाना का कुछ भाग धीरे-धीरे रेगिस्तान बनता जा रहा है। नलगोंडा और महबूब नगर सर्वाधिक सूखे जिलों में गिने जाते हैं। सूखे की चपेट में हर साल अधिक-से-अधिक इलाका आता जा रहा है।

खाने को अन्न नहीं, पीने को पानी।
नाम तो है अन्नपूर्णा, घर की है रानी॥

गाँव के लोग शहरों की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। ग्राम दरिद्र होते जा रहे हैं, उजड़ते जा रहे हैं। शहर भीड़भाड़ वाले होते जा रहे हैं। जनसंख्या के इस असंतुलन का दबाव शहरों के संसाधनों तथा जीवन स्तर पर नकारात्मक पड़ रहा है। शहरवासी अत्यधिक दबाव के कारण परेशान हैं। पानी, बिजली, यातायात, भीड़ आदि बातों ने शहरियों के जीवन स्तर को कम किया है। दूसरी ओर गाँवों से आए बेसहारा बेघर भूखे, प्यासे ग्रामीण शहरों के चौराहों, मैदानों, उद्यानों आदि में फैल गए हैं। भिखमंगों की संख्या बढ़ गई है। सामान्य सुविधाओं के अभाव में गंदी बस्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। चारों ओर अनियंत्रित गंदगी फैलती जा रही है। अपराध बढ़ रहे हैं। क्या गाँधी-विनोबा ने इसी 'ग्राम स्वराज्य' का स्वप्न देखा था? स्वावलम्बी गाँवों का स्वप्न टूट चुका है।

गाँवों की अर्थव्यवस्था का आधार पानी है। पानी के अभाव में गाँवों की दशा परम दयनीय होती जा रही है। आज हमारा देश पानी के भारी संकट का सामना कर रहा है। यह संकट हर वर्ष बढ़ता ही जाएगा, क्योंकि जल-संचयन करनेवाले हमारे सरोवरों को हमारी स्वार्थी पीढ़ी ने नष्ट कर दिया है। सरोवरों की जगह बस्तियाँ बसाई जा रही हैं। बरसात का पानी कहाँ जमा होगा? जो थोड़ा पानी आकाश से बरसता है, वह भी समुद्र में चला जाता है। वर्षा-जल संचयन का हमारे पास कोई साधन ही नहीं है। यदि पानी इसी तरह बहकर चला जाएगा तो हमारी खेती सूख जाएगी,

---

*हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

पेड़-पौधे नष्ट हो जाएँगे, पशु-पक्षी मर जाएँगे और पीने के पानी के भी लाले पड़ जाएँगे। त्राहि-त्राहि मच जाएगी। पानी के लिए लड़ाइयाँ होंगी, यहाँ तक कि युद्ध भी होंगे। यह स्थिति आ चुकी है। प्रान्तों के बीच दस साल बाद क्या हालत होगी, उसकी कल्पना ही की जा सकती है।

खेतों में खड़ी फसलें सूख जाती हैं। किसान भूखों मरते हैं। आत्महत्याएँ करते हैं। कितने ही मवेशी चारे और पानी के अभाव में मौत के शिकार होते हैं। पानी के अभाव में न खेती होती है, न दूध-दही प्राप्त होता है। पानी ही हमारी अर्थ-व्यवस्था का आधार है। दुर्भाग्य से जंगलों के कट जाने के कारण समय पर पर्याप्त बरसात नहीं होती। तालाब सूखते जाते हैं। जंगल के भीतर के जल-स्रोत सूखते जा रहे हैं।

अतः वर्षा जल को संचित व संरक्षित करना जरूरी है। आकाश से गिरने वाला 80% जल समुद्रों में व्यर्थ बह जाता है। वर्षा काल के बाद फिर सूखे का साम्राज्य होता है। यदि गाँव-गाँव में सरोवर बनाकर, घर-घर में जल कुण्डलियाँ बनाकर वर्षा जल संचित किया जाए तो इस देश में पानी की कमी नहीं रहेगी।

है जल ही जीवन का आधार
जल का है आधार मेघ
और मेघों का आधार है जंगल
जितने जंगल, उतनी वर्षा
जितना ऊसर, उतना सूखा।
जंगल, जल, जमीन जन-शक्ति,
इनका हो समुचित
संयोजन और प्रबंधन,
तभी देश समृद्ध बनेगा स्वावलम्बी औ' सम्पन्न।

किसी भी देश के पर्यावरण संतुलन को बनाए रखने के लिए 33% वन चाहिए। हमारे दो तिहाई वन समाप्त हो चुके हैं, केवल एक तिहाई बचे हैं। हमें अपने देश के पर्यावरण को बचाना है तो युद्ध स्तर पर काम करना होगा। अधिक-से-अधिक पेड़ लगाकर, उन्हें संरक्षित कर, देश को पुनः हरा-भरा बनाना होगा। तभी 'शस्यश्यामलाम्' यह विशेषण सार्थक होगा। भारत में ही नहीं सारे विश्व में वनों का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है। अफ्रीका, मध्य अमेरिका, जावा-सुमात्रा, फिलिपिन्स, बर्मा, भारत आदि देशों में उष्ण कटिबंधीय वर्षावन बड़ी भयंकर गति से काटे जा रहे हैं। मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहा है। ईंधन, चारा, इमारती लकड़ी, कागज, पैनल बोर्ड आदि के लिए प्रतिदिन हजारों एकड़ जंगल बेरहमी से काटे जा रहे हैं। एक पेड़ बढ़ने में पच्चीस-तीस वर्ष लगते हैं, पर उसे काटने में पच्चीस मिनट भी नहीं लगते।

जंगल हमारे पर्यावरण के संचालक हैं, संरक्षक हैं, आगार हैं। धरती के शृंगार हैं, जीवन के आधार हैं। जंगल जलधाराओं को रोके रखते हैं। मिट्टी को कटाव से बचाते हैं। प्राणवायु देते हैं, बहुमूल्य लकड़ी, चारा ईंधन और औषधियाँ प्रदान करते हैं। न जाने कितने जीव-जन्तुओं और प्राणियों को संरक्षण प्रदान करते हैं। इसी को जीव-वैविध्य कहते हैं। पशु-पक्षियों और वृक्ष पादपों के इस सह-अस्तित्व से ही हमारा पर्यावरण चक्र या प्रकृति चक्र बनता है। इसी से धरती में मौसम संचालित होता है। प्राणियों के इस अन्तःसम्बन्ध को समझना और उनकी रक्षा करना जरूरी है। जीव-जन्तु, वनस्पति और जल संसाधनये आपस में जुड़े हुए हैं। इनमें से एक के नष्ट करने पर दूसरे स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

हमारे देश में हिमालय के वन-प्रदेश, बस्तर के जंगल, पूर्वी और पश्चिमी घाट के जंगल, बिहार, बंगाल, आसाम और पूर्वांचल के वन-प्रदेश हमारी धरोहर हैं। हमारी जनता ने 'चिपको' और 'एपिको' जैसे आन्दोलनों द्वारा इन कटते जंगलों को बचाया। हिमालय की महिलाओं ने संगठित होकर, रूखे-सूखे पहाड़ों को लाखों पेड़ लगाकर फिर से हरा-भरा बना दिया। हम सभी का कर्तव्य है कि हम प्रतिवर्ष कम-से-कम तीन पेड़ लगाएँ, उनकी रक्षा करें और उनको बड़ा करें। जंगलों की रक्षा करें, ताकि हमें जल मिलता रहे। समय पर वर्षा होती रहे। नदियाँ वर्ष भर बहती रहें। हमारी उपजाऊ मिट्टी बहने न पाए और हमारे देश के पशु-पक्षियों की रक्षा हो! जंगल कट जाएँगे तो हमार वन्य प्राणी भी नष्ट हो जाएँगे। हाथी, शेर, सिंह, चीता, भेड़िया, हिरण, खरगोश, मोर, तीतर, बटेर, चील, गिद्ध आदि पशु-पक्षी हमारी धरती के आभूषण हैं। इनकी रक्षा करना मानव का कर्तव्य है। हर वर्ष, हमारे क्रियाकलापों के कारण पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं की हजारों प्रजातियाँ नष्ट होती जा रही हैं। इनको बचाए रखने के लिए वनों का संरक्षण जरूरी है। हमारी संस्कृति 'अरण्य संस्कृति' रही है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने वनों में रहकर जीवन के गहन सत्यों का साक्षात्कार किया था। इसीलिए कहा गया है

क्या हैं जंगल के उपकार
मिट्टी पानी और बयार
मिट्टी, पानी और बयार
सबके जीने के अधिकार।

मिट्टी, पानी और बयार (हवा) आज शुद्ध नहीं रहे। आज हमारा वातावरण विविध प्रकार के प्रदूषणों से भर गया है। सारी पृथ्वी का पर्यावरण संतुलन बिगड़ गया है।

ओजोन की परत तेजी से गलती जा रही है, सूखा और बाढ़ आम बातें होती जा रही हैं। वातावरण में प्रतिवर्ष गरमी बढ़ती जा रही है। रेगिस्तान फैलते जा रहे हैं। पानी की लगातार कमी होती जा रही है। हो सकता है अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाए। इसी कारण विश्वभर के वैज्ञानिक और बुद्धिजीवी

पर्यावरण संरक्षण की बात कर रहे हैं। पर पर्यावरण वस्तुतः है क्या?

जंगलों की घनी शाखाएँ और पत्ते बरसात के जल के प्रवाह को रोक लेते हैं। भूमि को कटने से बचाते हैं। कीमती मिट्टी बचाते हैं। बहुत-सा वर्षा जल पत्तों-शाखाओं में रुक जाता है। वर्षा के समाप्त हो जाने के बाद भी बूँद-बूँद रिसता है। इससे झरने बनते हैं, नाले और छोटी-छोटी नदियाँ बनती हैं। अतः वन्य प्रदेशों में साल भर पानी उपलब्ध होता है। ये पेड़ों की हरी-भरी शाखाएँ वस्तुतः भगवान शंकर की जटाएँ हैं, जिनमें गंगा का तीव्र प्रवाह रुक जाता है, और सर्व प्राणी हित के लिए सदानीरा बनकर बहता है। तभी तो गंगा 'सुरसरी', 'सदानीरा' कहलाते हैं। पेड़ों के सूखे पत्ते, भूमि पर गिरकर, एक परत मृदा की बन जाते हैं, जो जल को सोख लेते हैं। वर्षा की समाप्ति पर बूँद-बूँद छोड़ते हैं। इस तरह जंगल 'वर्षा जल संचयन' के सर्वोत्तम प्राकृतिक साधन हैं। जहाँ जंगल होते हैं, वहाँ सदैव पानी प्राप्त होता रहता है। उदाहरण हैं हिमालय के वनाच्छादित प्रदेश। हिमालय से निकलने वाली नदियाँ सदानीरा हैं, क्योंकि ये सभी हिमगिरी के वनप्रांत में उद्गमित होती हैं।

सतत जल सम्प्राप्ति के लिए हमें वनों को बचाना और बढ़ाना चाहिए। जंगल हैं तो जल है, जल ही देश का अन्तिम जीवनाधार है।

पृथ्वी पर स्थित जैव तथा अजैव पदार्थों के सहसम्बन्ध को पर्यावरण कहा जाता है। सरल शब्दों मेंहमारे चारों ओर के वायुमण्डल, जल, मिट्टी, जंगल, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों और सूक्ष्म जीवाणुओं के वलय को पर्यावरण कहा जाता है। जीवित प्राणियों तथा निर्जीव पदार्थों के बीच सतत क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। इसी से पर्यावरण चक्र चलता है। यह निसर्गतः चलनेवाली प्राकृतिक प्रक्रिया है। लाखों वर्षों से यह प्रक्रिया अबाध गति से चलती रही है।

गत दो-सौ वर्षों में विज्ञान के नए उपकरणों के आविष्कारों तथा औद्योगिकीकरण के कारण प्रकृति के कार्यकलापों में मनुष्य का हस्तक्षेप बढ़ गया। नदियों को रोककर विशाल बाँध बनाए गए, लाखों एकड़ जंगल काट डाले गए, कोयला, पेट्रोल तथा धातुओं के लिए जमीन को बेरहमी से खोदा गया, बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ निर्मित हुईं, शहरों का विस्तार हुआ, जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया गया, ऊर्जा के लिए कोयला आदि ईंधन जलाया गया, आवागमन के साधनों में जलने वाले पेट्रोलियम पदार्थों के कारण लाखों टन गैसें वायुमण्डल में फैलीं। बड़े-बड़े महायुद्ध हुएपरमाणु विकिरण का प्रसार हुआइस प्रकार धरती की सतह का रूप ही मनुष्य ने बदल डाला! इन्हीं कारणों से पर्यावरण संतुलन डगमगा गया और इसके दुष्परिणाम सामने आने लगे। अपनी ही अविचारित कार्यों का शिकार मनुष्य हुआ।

नई-नई बीमारियाँ फैलने लगीं। 'सुजलां, सुफलां, शस्य-श्यामलाम् धरती' विषाक्त हो उठी! मनुष्य जाति ने विकास करने के लिए विनाश ही अधिक किया है।

धरती माता घायल है मानो यह चुपचाप बिसर रही है। मनुष्य की उपभोक्तावादी प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। अधिक-से-अधिक वस्तुओं का उत्पादन करना व उन्हें बेचना ही व्यापार की सफलता मानी जाने लगी है। हमारी लालसाओं का कोई अंत नहीं। गाँधी जी ने कहा था, "प्रकृति के पास हर प्राणी की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए पर्याप्त साधन हैं। पर लालसा पूरी करने के लिए नहीं।" पर्यावरण असंतुलन और विनाश आज वैश्विक समस्या बन गई है। प्रदूषण की दिन-प्रतिदिन बढ़ती मात्रा के कारण जीवन दुस्तर होता जा रहा है। प्रदूषण के कुछ प्रकार निम्नलिखत हैं

वायु प्रदूषण

कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड, नाइट्रोजन के विविध यौगिक, गाढ़ा धुआँ, आर्सेनिक, गंधक के यौगिक अमोनिया, क्लोरिन, गैस, धूल के कण तथा कचरा, प्लास्टिक, रबर, आदि के जलने से निकलने वाली जहरीली गैसें हमारे वायुमण्डल को प्रदूषित करती हैं। वायु प्रदूषण का सीधा प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर पड़ता है। बड़े शहरों में लोग फेफड़े की बीमारियोंयथा दमा, राज-यक्ष्मा (टी.बी.) आदि से ग्रस्त रहते हैं। दिल्ली, मुम्बई, लन्दन, टोकियो, मेक्सिको, न्यूयार्क आदि विश्व के सर्वाधिक प्रदूषित शहर हैं। ठण्डे प्रदेशों में धुआँ और धुंध मिलकर स्मॉग बनता है, जिससे प्रतिवर्ष हजारों लोग मरते हैं। अम्ल वर्षा सामान्य बात हो चुकी है, जिससे बहुत हानि होती है।

वर्षा जल संचयन ही वह मंत्र है जो हमारे जीवन की प्राथमिक आवश्यकता जल मुहय्या करा सकता है। भूतल जल तथा छतों पर बरसा पानी ढलान की ओर दौड़ा कर, उसे एक नाले या पाइप द्वारा जल-कुण्डी में भेज दिया जा सकता है। जल कुण्डी एक ऐसा खड्डा होता है, जिसमें कंकड़ भरे होते हैं। पानी उसके माध्यम से धरती के भीतर उतर जाता है, और धरती का जल स्तर बढ़ जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा कुओं, बावड़ियों, बोरवेलों आदि से काफी पानी उपलब्ध होता है।

मिट्टी के कणों में लिपटा हुआ जल पेड़-पौधों को सहज ही उपलब्ध होता है। इससे पेड़-पौधे स्वस्थ रहते हैं। हम अपने सारे शुभ कार्यों में वरुण देवता का आह्वान तो करते हैं, कलश के रूप में उसे स्थापित करते हैं, पूजते हैं, पर जल संचयन तथा जल संरक्षण के प्रति उत्साह नहीं दिखाते। जल संरक्षण ही वरुण देवता की वास्तविक पूजा है। नदी-नालों, सरोवरों को स्वच्छ रखना ही वरुण देवता की सही आराधना है।

जल प्रदूषण

औद्योगिक धोवन तथा शहरों की गंदी नालियाँ इसके प्रमुख कारण हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, कृष्णा आदि विशाल नादियाँ भयंकर रूप से प्रदूषित हो चुकी हैं। उत्तर प्रदेश में कानपुर के पास चमड़ा उद्योग के भयंकर रसायन गंगा में घुलते रहते

हैं। कागज, सीमेंट, रसायन, पेंट, दवाई आदि उद्योगों के कारण नदियों का प्रदूषण बहुत बढ़ा है।

चमड़े, कागज, रसायनों, औषधियों, शक्कर, सीमेंट आदि की फैक्टरियों से प्रतिदिन टनों प्रदूषित जल नदियों में छोड़ा जाता है। इससे नदियाँ और सरोवर प्रदूषित होते हैं।

ध्वनि प्रदूषण

ध्वनि को डेसिबल में नापा जाता है। मनुष्य पचास से साठ डेसिबल ध्वनि सह सकता है। इससे बढ़ जाए तो शरीर व मन पर इसके दुष्परिणाम पड़ने शुरू हो जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कम-से-कम ध्वनि पैदा करें। शान्ति से रहना सीखें। सुखी जीवन, ध्यान और कार्य क्षमता के विकास का पहला सोपान शान्ति है। बड़े-बड़े वाहनों, लाउडस्पीकरों, रेडियो आदि के कारण वातावरण में शोर बढ़ता ही जा रहा है। शोर से बेचैनी बढ़ती है और रक्तचाप जैसी बीमारियाँ होती हैं।

वृक्ष वातावरण से प्रदूषण सोख लेते हैं, ध्वनि तरंगों को रोकते हैं और प्राणवायु प्रदान करते हैं; शीतलता देते हैं। पृथ्वी हमारी माता है। वेदों में कहा गया है‘माता पृथ्वी पुत्रोऽहं पृथिव्या’हे पृथ्वी, तुम माता हो, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ! पृथ्वी तो माताओं की माता है। जगन्माता है, विश्वमाता है। सबकी पालिका-पोषिका और संरक्षिका है। ऐसी माता को हम लगातार कष्ट पहुँचाते हैं। उसे घायल करते हैं। उसे लूटते-खसोटते हैं। फिर भी माता हमारा हित ही करती है

“कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि माता कुमाता न भवती।”

पुत्र कभी कुपुत्र हो भी जाए कभी माता कुमाता नहीं होती। हम गंदगी, कचरा, रसायनों, जहरीले पदार्थों आदि द्वारा लगातार धरती को प्रदूषित करते रहे हैं। क्या यह उचित है? पेड़ों को काटकर रेगिस्तान बनाते हैं, नदियों में गंदगी डालते हैं, नालियाँ छोड़ते हैंक्या यह ठीक है? हम आनेवाली पीढ़ियों को कैसी धरती सौंपेंगे? विषाक्त, प्रदूषित, ऊष्मा से जलती हुई, रेगिस्तान-सी तपती हुई हरीतिमा रहित, जल-रहित, बीमारियों से भरी हुईरुग्ण, पीड़ित, घायल, चुपचाप रोती हुई धरा या स्वच्छ सरोवरों से भरी हुई, हरित चादर ओढ़ी हुई, रंग-बिरंगे फूलों के गहनों से सजी हुई, झूमते गाते जंगलों और बलखाते झरनों के आद्य दिव्य संगीत से गुंजायमान, पक्षियों के गान से मुखरित, तितलियों और गिलहरियों के चंचल खेल-कूद से आह्लादित सुगंधित पुष्पों से आती सुरभित वायु से लदी हुई।

आखिर कैसी धरती हम अपनी आनेवाली पीढ़ियों को सौंपना चाहते हैं। आतंकवाद, बम विस्फोट, हत्याएँ, युद्धों की विभीषिकाएँ, धार्मिक उन्माद, विध्वंस और संहारजन्य भय के साए में ढकेलते रहेंगे हमारे युवा मस्तिष्कों को या शान्ति, सहिष्णुता, समानता, सह-अस्तित्व, सहयोग, भ्रातृत्व, धार्मिक सद्‌भावनाओं की आत्मीय सुगंध के संस्पर्श से निर्भय-स्वच्छन्द विचरने योग्य विश्व के निर्माण की मानसिकता बनाएँगे उनकी! आइए गौतम बुद्ध की पावन जयंती के दिवस पर आत्म-दीप प्रज्वलित कर, नए विश्व के निर्माण हेतु एक पौधा रोपें और उसे आत्मीयतापूर्ण अमृत से भरा जिजीविषा का जलपान कराएँ। नवीन विश्व का निर्माण करें हम!

सारा विश्व मानों एक बाजार बन गया है और मनुष्य आदमी से घटकर मात्र एक वस्तु बन गया है। मनुष्य इस विशाल यंत्र का एक पुर्जा बन गया है। इससे मनुष्य की अपनी गरिमा खो गई है। उसकी अस्मिता समाप्त हो गई है। सारे साधन होते हुए भी उसके दुःख बढ़ते जा रहे हैं। ऐसे में जरूरी है कि पुनः प्रकृति माता के साथ आत्मीयता स्थापित करें। हम वृक्षों, जलाशयों, पशु-पक्षियों आदि के साथ आत्मीयता बढ़ाएँ। प्रकृति का संरक्षण करें। हम सब मिलकर घायल धरती माता को पुनः हरित-भरित, जलपूरित, शस्य-श्यामल बनाएँ। तभी मानव जाति सुखी हो सकती है।

हम प्रकृति के साथ रहना सीखें। पेड़-पौधों के साथ अपनी आत्मीयता को जोड़ें। वृक्षों की संवेदना को अनुभूत करें। अपनी चेतना का विस्तार करें। महावीर और बुद्ध ने यही कहा। वर्ड्स्वर्थ, वाल्ट ह्विटमेन, वाल्मीकि, कालिदास, पंत और महर्षि अरविन्द का यही संदेश है। अपनी चेतना का वलय विस्तृत करो। प्रकृति के साथ स्पन्दित हो। उसके साथ एकाकार हो जाओ।

पर्यावरण संरक्षण वस्तुतः एक दर्शन है, महज सरकारी या गैर-सरकारी कार्यक्रम नहीं! गाँधी और विनोबा का ‘ग्राम-स्वराज्य’ का स्वप्न पूर्ण नहीं हुआ! स्वावलम्बी गाँव, जो कि राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी थे, समाप्त हुए। बेरोजगारी, दरिद्रता, भुखमरी, सूखा, हिंसा, आतंकवाद आदि से गाँव त्रस्त हैं। इसका मुख्य कारण हैसरोवरों का विनाश। जल संचयन की हमारे पास कोई योजना नहीं। सरकारों ने जल-संग्रह पर ध्यान नहीं दिया। अतः जब तक वृक्षों, सरोवरों व वनों को संवेदनात्मक स्तर तक नहीं लाया जाएगा तब तक जीवन सुख, शान्ति, समृद्धि पूर्ण नहीं होगा।

पाठकीय प्रतिक्रिया

जुलाई-सितम्बर अंक मिला। आप प्रत्येक लेख के प्रथम पृष्ठ के नीचे लेखक का अति संक्षिप्त परिचय देते हैं। यह दें या न दें, पता अवश्य दिया करें। विकास भारती के विषय में श्री राम बहादुर राय कालेख पढ़कर लगा कि यदि बूढ़ा न होता तो सम्भवतः मैं श्री अशोक भगत का सहयोगी बन जाता। मैंने असम, बंगाल और ओड़िसा की रामायणों का 'मानस' के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। इसी सन्दर्भ मैं,मैंने पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के विषय में जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की थी। डॉ. राजमल बोरा का लेख 'उत्तर-पूर्व की भाषाएँ' मेरे लिए उपयोगी और ज्ञानवर्धक है। इन्हीं के लेख से पता चला कि डॉ. ब्रज बिहारी कुमार ने अनेक जनजातियों की भाषाओं पर कार्य किया है। डॉ. कृष्ण चन्द्र गोस्वामी आजकल अच्छा लिख रहे हैं। श्री शंकर शंरण देश के गद्दारों की बखिया उधेड़ रहे हैं। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, डॉ. कुमारविमल, डॉ. विजय राघव रेड्डी और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह के लेख भी पठनीय हैं। मैं सम्पादकीय से सहमत हूँ कि समाचार माध्यम गन्दगी के पनाले हैं। **- डॉ. रमानाथ त्रिपाठी, 26 वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली।**

'चिन्तन-सृजन' के अंक 3, 4, 5 मैंने दो दिन पूर्व ही लिया है। पत्रिका के विषय को देखकर उसकेप्रति एक खास आकर्षण मेरे मन में पैदा हो गया है। अभी 'चिन्तन-सृजन' अंक-4 के कुछ लेख ही पढ़ पाया हूँ, लेकिन उसकी विषय सामग्री और उसकी प्रस्तुति ने मेरे बौद्धिक घरातल को एक मजबूत आधार दिया है। काफी दिनों से मैं एक ऐसी ही पत्रिका के बारे में सोच रहा था और ऐसी पत्रिका निकालने की योजना बना रहा हूँ। कुछ मित्रों से चर्चा भी हो चुकी है और आगे ईश्वर जाने। 'चिन्तन-सृजन' पत्रिका ने निश्चित तौर पर भारतीय जनता के हृदय को झकझोरने का लक्ष्य निश्चित किया है और मुझे विश्वास है इसमें पत्रिका सफल भी होगी।'चिन्तन-सृजन' भारतीय संस्कृति और उसके मूल्यों को जानने और समझने में महत्त्वपूर्ण सहयोग करती दिखाई देती है। भरतीय संस्कृति के गौरव को सामने लाने का काम अठारहवीं सदी के चिन्तकों ने किया था, जिसकी परिणति स्वतंत्रता संग्राम की ऊर्जा के रूप में दिखाई पड़ती है। आज के संक्रमण के दौरे में हम भटकाव की स्थिति में आ गए हैं और अपनी स्वार्थ साधना में अपने मनीषियों का अपमान करने से भी नहीं चूकते हैं। तभी तो मुंशी प्रेमचन्द की रंगभूमि को जलाते हैं और मुंशी प्रेमचन्द को सामंतों के मुंशी के रूप में ही देख पाते हैं और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को एक चिन्तक नहीं अपितु एक ब्राह्मण के रूप में देखते हैं। ऐसी स्थिति में 'चिन्तन-सृजन' का काम निश्चित तौर पर भारत के अतीत के गौरव के माध्यम से हमें जाग्रत करने का महत्त्वपूर्ण काम है। 'चिन्तन-सृजन' में प्रकाशित लोकेशचन्द्र जी का 'संस्कृति, निर्मिति और व्यापकता', यशदेव शल्य का 'भारत का सांस्कृतिक संकट', मिशेल डानिनो का 'भारतीय चिन्तन पर उपनिवेशन का प्रभाव', एस. पी. राय का 'समय का स्वरूप', रमेशचन्द्र शाह का 'हिन्दुत्व, सेकुलरवाद और राष्ट्रीय भाव-बोध', निर्मल वर्मा का 'वर्तमान समय में भाषा और साहित्य की स्थिति' और शंकर शरण का बीते वर्षों की कहानी आदि लेखों को बारीकी से मैंने पढ़ा और पाया कि ये जालसाज बुद्धिजीवियों की कलई खोलने वाले महत्त्वपूर्ण लेख हैं और साथ ही हमारी समझ को भी विकसित करते हैं। मेरे जैसे तमाम लोग अपनी देश की संस्कृति और जीवन मूल्यों से परिचित ही नहीं हैं और छद्म बौद्धिकों के मायाजाल के उलझनसे भारत की साफ तस्वीर नहीं देख पा रहे हैं। हमारे पास जालसाज बौद्धिकों की कारगुजारियों का कोई चिट्ठा भी नहीं है जिसके आधार पर हम जालसाजों को बेनकाब करने की स्थिति में हों। आपकी पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' ने निश्चित तौर पर मुझे और मेरे जैसे लोगों को पर्याप्त सामग्री दी है जिसके आधार पर हम भारतीय संस्कृति और मूल्यों की बात दमदारी से रख सकेंगे। आप समय-समय पर जालसाज बुद्धिजीवियों की काली कमाई को उजागर करते रहें यही मेरी कामना है, जिससे भारत का बुद्धिजीवी इनके झाँसे में नहीं आ सकें। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यह पत्रिका दीर्घजीवी रहे। अतः यदि कोई अवरोध उपस्थित हो तो आप मुझे भी अवगत कराने की कृपा अवश्य करेंगे। **डॉ. शर्वेश पाण्डेय, प्रवक्ता हिन्दी, डी. सी. एस. के. पी. जी. कालेज, मऊनाथ भंजन, मऊ (उत्तर प्रदेश)**

'चिन्तन-सृजन' का जुलाई माह का अंक मिला। पढ़कर बहुत प्रसन्नता हुई। विशेषकर प्रो. राजमल बोरा का लेख 'उत्तर पूर्व की भाषाएं', शंकर शरण का 'देशद्रोह की फेलोशिप' और प्रभाकर श्रोत्रिय का 'ममऔर ममेतर' बहुत अच्छे लगे। आपने पूर्वाचंल के जनजातीय समाज पर काफी काम किया है। ... यदि 'चिंतन सृजन' के किसी अंक में से हम कोई लेख पुनः प्रकाशित करना चाहें तो आशा है आप अवश्य स्वीकृति देंगे। मैं शंकर शरण और प्रो. राजमल बोरा का लेख तो अवश्य लेना चाहूंगा। **तरुण विजय, सम्पादक, पाञ्चजन्य, राष्ट्रीय साप्ताहिक, नई दिल्ली।**

'चिन्तन-सृजन' पत्रिका जुलाई-सितम्बर 2005 अंक प्राप्त हुआ, ... यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुईकि निबंधों का स्तर प्रत्येक अंक में निरंतर उठता ही जा रहा है। एक ओर जहां साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन में ह्रास हो रहा हो वहीं 'चिंतन-सृजन' पत्रिका अत्यधिक लोकप्रियता की ओर अग्रसर है। इसमें संकलित सामग्री दुर्लभ तथा

शोधपरक है। इस का प्रत्येक अंक सरल भाषा में रुचिकर एवं ज्ञानवर्धक है। पत्रिका संग्रहणीय है। अतः संपादक से जुड़े सभी विद्वानों को मैं बधाई देता हूँ।संपादकीय परिप्रेक्ष्य में आपने जो '... गंदगी के पनाले' विषय पर विचार व्यक्त किए, उनसे मैं अक्षरसः पूर्णतया सहमत हूँ आपने लिखा है कि "पाठक संख्या बढ़ाने की होड़ में समाचार-पत्र आत्म-नियंत्रण खो चुके हैं। इसके लिए वे धड़ल्ले से अधिकाधिक अश्लील साहित्य (सामग्री) का प्रकाशन कर रहे हैं। और 'इसअपराधी विचारधारा का प्रतिकार एवं इससे ग्रस्त मनोरोगी व्यक्तियों का निदान आवश्यक है।' - एक स्वागतीय विचार है। यहां तक कि टेलिविजन संस्कृति तो और चार कदम आगे बढ़ चुकी है। "उत्तर-पूर्व की भाषाएँ" (ले. प्रोफेसर राजमल बोरा) एक शोधात्मक निबंध प्रस्तुत करने के लिए मैं उनका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ। रामकथा के मर्मज्ञ विद्वान डॉ. रमानाथ त्रिपाठी का ललित निबंध "आधुनिक संदर्भ में रामचरितमानस" ज्ञानवर्धक है और डॉ. त्रिपाठी के इन विचारों से कि "आज दूरदर्शन भ्रष्ट भाषा हमारे ऊपर थोप रहा है। इसके हिंदी कार्यक्रमों की भी नामावली अंग्रेजी में प्रस्तुत की जाती है" - मैं पूर्णतया सहमत हूँ। अतः सृजनात्मक साहित्य के विद्वान पाठकों एवं लेखकों से विनम्र निवेदन है कि नागरी लिपि के रोमनीकरण को रोकने की ओर चिंतन करें तथा सपादकीय समिति भी इस ओर घ्यान दे। 'चिन्तन-सृजन' पत्रिका के सुन्दर आवरण एवं सुंदर छपाई के लिए मैं पत्रिका से जुड़े सभी विद्वानों को बधाई देता हूँ। इसकी अनवरत प्रगति के लिए शुभकामनाएँ। **डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, महासचिव, शोध प्रकाशन अकादमी, 5/48, वैशाली, गाजियाबाद।**

मैं उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय राजा राममोहनपुर, (पश्चिम बंगाल) में विजिटिंग प्रोफेसर होकर आया हूँ, काव्यशास्त्र पढ़ाने। मेरा सौभाग्य कि यहाँ 'चिंतन-सृजन' के 2-4 (तीन अंक) मिल गए। मेरी हालत बिहारी की सी हो गई। 'देखत बने न देखते बिन देखहिं अकुलाई'। ऐसी साहित्यिक पत्रिका जो देश, काल, पात्र, परिस्थिति की अंतर्यात्रा करती हुई शोधोपजीण्य व विचारोत्तेजक हो, दुर्लभ है। संपादकाचार्य आचार्य शिवपूजन सहाय पर श्रीरंजन सूरिदेव का लेख अनुभवजन्य है एवं सहाय की संपादन-कला की बारीकियों का भेदक भी। अपनी अस्थियाँ जलाकर जगको रोशनी देने वाले आचार्य सहाय ने साहित्यि-पत्रकारिता को उत्कर्षदिया तो संपादन-कला का आदर्श प्रतिमान भी उपस्थित किया। इस अंक में यशदेव शल्य ने नारी-अस्मिता के कुछ अछूते व नवीन मुद्दों पर तटस्थ होकर विचार किया है जो दृगोन्मीलक हैं। डॉ. तिवारी नाटक के पंडित हैं और उनका लेख अंकीया नाटकों के स्रोत व वैशिष्ट्य पर सम्यक प्रकाश डालता है। अंक तीन में डॉ. कुमार विमल की 'शुक्ल रसदृष्टि' उनकी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का विन्यास है। यह गौरतलब व सर्वसम्मत है कि शुक्लजी ने काव्य को दृष्टिपथ में रखकर साधारणीकरण पर अपनी स्थापनाएं दी हैं। यह लेख

सिद्धान्त और विनियोग (रस) का अपूर्व समन्वय है। अंक 4 में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लेख है - 'भारतीयपरंपरा और नारी अस्मिता' जिसमें भारत के क्या पूरे विश्व के नारी आंदोलनों, उनकी उपलब्धियों के आलोकमें नारी अस्मिता पर विमर्श है। ऐसी पत्रिका की दीर्घायु की प्रभु से प्रार्थना है। **डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन,राजेन्द्र पथ, धनबाद (झारखंड)।**

पत्रिका की चिन्तना काफी प्रखर है। उस पर आपकी संपादन-क्षमता, बेजोड़। संपादकीय वर्त्तमान-युग की कल्मषता को उकेरने में सक्षम है। बधाई। हिन्दी सर्जन एवं आलोचना (डॉ. कृष्णचन्द्र), डॉ. देवराज के आलोचना-दर्शन का सांस्कृतिक आधार (डॉ. कुमार विमल), अज्ञेय के लिए व्यक्ति और समाज (प्रभाकर श्रोत्रिय) एवं आधुनिक संदर्भ में रामचरित मानस (डॉ. रमानाथ त्रिपाठी) शीर्षक आलेख काफी ज्ञानवर्द्धक एवं रोचक हैं। **संपादक 'कला', पूर्णियाँ।**

'चिन्तन-सृजन' का जुलाई-सितम्बर 2005 का अंक पाकर धन्यता का बोध हुआ। इसमें आपने मेरे सुझाव को मूल्य देकर मुझे जो मूल्यवान बनाया, उसके लिए मैं आपका अंतःकृतज्ञ हूँ।भाषा-सर्वेक्षण से जुड़े, इस अंक के दोनों आलेख 'उत्तर-पूर्व की भाषाएँ' (प्रो. राजमल बोरा) एवं 'नाग ध्वनि तन्त्र' (प्रो. राजेन्द्र प्रसाद सिंह) भाषाशास्त्र के अनुशीलन के क्षेत्र में अभिनव आस्वाद के उपस्थापक हैं। आप तो स्वयं पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं के गम्भीर अध्येता और पुरस्कर्त्ता रहे हैं। इसलिएऐसे आलेखों के प्रति आपका सम्पादकीय आग्रह असहज नहीं है। 'चिन्तन-सृजन' को आपने भाषिकी के शोध-अध्ययन की दृष्टि से एक विशिष्ट और श्लाघ्य व्यक्तित्व से मण्डित किया है। डॉ. कुमार विमल की डॉ.'देवराज के आलोचना-दर्शन की दृष्टि' में रुचिरता और अभिनवता के साथ ही वैदुष्य भी है। **--डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना।**

आपके द्वारा प्रेषित 'चिन्तन-सृजन' का वर्ष-3 अंक-1 मेरे हाथ में है इससे पूर्व भी 2-3 अंक डाक से प्राप्त हुये थे। प्रतीक्षा थी आपके पत्र की जो अब तक नहीं मिला। क्या कोई सहयोग चाहिये? यदि हाँ तो कृपया सूचित करेंगे। वैसे चिन्तन-सृजन में विद्वान चिन्तकों का आलेख कागज, छपाई और कवर पृष्ठ सभी उत्कृष्ट हैं। 'चिन्तन-सृजन' जिस विचार धारा का संवाहक है मैं भी उसी विचार धारा को मानने वाला हूँ अतः इस तरह की पत्रिका के सम्पादन हेतु साधुवाद। कृपा पत्र की प्रतीक्षा रहेगी। **तारानन्द झा 'तरुण' संस्थापक-सह-प्रबंधक, भारती मंडन, मलाढ़, सुपौल, मिथिला (बिहार)।**

विविध विषयों पर शोधपरक एवं ज्ञानवर्द्धक सामग्री से परिपूर्ण चिन्तन-सृजन का जुलाई-सितम्बर 2005 अंक प्राप्त हुआ। हार्दिक धन्यवाद। श्री शंकर शरण का 'देश-द्रोह की फेलोशिप' राष्ट्रवादी शक्तियों के विरुद्ध विदेशी ईसाई मिशनरियोंके

आध्यात्मिक आक्रमण के समर्थक तथाकथित सेक्युलरवादियों पर करारा प्रहार है। उन्हीं की भाषा-शैली मेंईंट का जबाब पत्थर से। राम साहित्य के विश्वस्तरीय, लब्धप्रतिष्ठ मर्मज्ञ विद्वान डॉ. रमानाथ जी त्रिपाठी द्वारा रचित 'आधुनिक संदर्भ में रामचरित मानस' राम के चरित्र एवं चरित्र विकास को समझने का सोपान है। लेख आधुनिक युग में जनसाधारण से लेकर राजवर्ग तक पर अमिट प्रभाव की छाप छोड़ता है। सभी के लिए प्रेरक प्रसंगों की ओर इंगित करता है। प्रो. राजमल बोरा का 'उत्तर पूर्व की भाषाएं' भाषा विज्ञान में रुचि रखने वालों के लिए ज्ञानवर्धक सामग्री प्रस्तुत करता है। अन्य लेख भी स्तरीय एवं पठनीय हैं। इस दृष्टि से अंक संग्रहणीय है। **--जगदीश चन्द्र त्यागी, प्रशांत विहार, दिल्ली।**

वर्ष 3 अंक -1 में प्रो. राजमल बोरा अपने आलेख 'उत्तर पूर्व की भाषाएँ' में बड़ी ही सरलतापूर्वक क्षेत्र की भाषाओं को व्याख्यायित करने में सफल हुए हैं। भाषा मात्र ही नहीं, बल्कि क्षेत्र के इतिहास, भूगोल आदि का भी विश्लेषण करने का प्रयास बोरा जी ने किया है। बोरा जी द्वारा उद्धृत डॉ. दिनेश कुमारके लेख के भाग जिसमें 'खासी शब्द का अर्थ है - ख़ासी = खा - जन्म, सी - प्राचीन माता। इस तरह शाब्दिक अर्थ है - माता का जन्म।" के बारे में मैंने बहुत खासी और अ-खासी महानुभावों से वार्तालाप किया है। कई खासी लेखक भी खासी शब्द के अर्थ के बारे में मौन हैं। एक खासी लेखिका विजया साइवानके शब्दों में तो 'खासी जाति का सम्बन्ध उत्तर भारत के खसों से हो सकता है' क्योकि 'खसों और खासियों के जेवरातों में अदभुत एकरूपता है।" (ka singsneng tymmeu, English version). एक खासी लेखक कनफाम सिंह लिखते हैं - "खासी हमने अपने को खुद कहा? या अंग्रेजों ने हमें यह नामदिया?" इस तरह खासी शब्द का अर्थ और इसके इतिहास के बारे में अब खासियों के बीच में भी बहुत शोध कार्य चल रहे हैं।इसी अंक के दूसरा एक लेख है डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह जी का 'नाग ध्वनि तन्त्र' उस में उन्होंने लिखा है कि - "नाग भाषाओं में ञ एवं ङ का अर्थ *विच्छेश्क* व्यवहार होता है। इनका यहाँ आदि स्थानीय प्रयोग भी होता है। बोड़ो और जैसी कुछ भाषाएँ इसके अपवाद भी हैं। इनमें ड. शब्दों के प्रयास में नहीं आता है परन्तु मध्य और अना में इसे अपनावे में परहेज नही करती है।" डॉ. राजेन्द्र जी ने क्षेत्र की बहुत सारे बोलियों से ङ का शब्दों में प्रयोग को दर्शाया है। पर खासी भाषा में ङ का शब्दों के प्रयोग के बारे में वे मौन हैं ।खासी भाषा में ङ शब्दों के आदि मध्य और अन्त कहीं भी आता है। ङ अक्षर खासी भाषा की प्राण है ऐसा कहा जा सकता है अंग्रेजों ने जब रोमन लिपि में खासी वर्णमाला तैयार की तब उन्हें एक अक्षर "छह़ (द्धङ) को जोड़ना पड़ा क्योंकि रोमन या अंग्रेजी में ङ अक्षर का विकल्प नही है। यहाँ कुछ शब्द जो ङ से शुरू होती है उन्हें नीचे लिख रहा हूं :ङ। - मैं, ङ। क - सख्त (तुलनात्मक), ङ ।ङ। द्ध= शिशु के लिए ड.। इन - अति काला, ड. ।न = मैं करूंगा, ङ ।प = गाल ङ ।प = मधुमक्खी, ङ ।प ङ ।प - अति सुबह, ङ ।र

ङ ।र = बहुत सुबह ङ। = हम, ङ ।न = हम करेंगे, ङ ।ट - फंसना, ङ ।क् - अचानक ङ ।इन = (काला) दर्शाता ।खासी भाषा में क्रिया विशेषण की बदौलत भाषा शब्द भंडार कम होने पर भी विकसित है और द्धिक्रया विशेषण शब्दों में ङ अत्यधिक प्रयोग में लाना पड़ता है। **-- दिलु सुवेदी, उमस्यीग, री मोइ, मेघालय।**

आपका पत्र एवं 'चिन्तन-सृजन' का अंक -4 प्राप्त किया। सुखद अनुभूति हुई। निश्चित तौर पर 'चिन्तन-सृजन' अपने ढंग की अनोखी और अकेली पत्रिका है। बहुत ही महत्वपूर्ण आलेख इस अंक में भी हैं। प्रो. रमेशचन्द्र शाह, सत्यमित्र दुबे, प्रो. धर्मदेव तिवारी, ध्रुव शुक्ल आदि के आलेख तथा लंबी परिचर्चा नेप्रभावित किया। चिंतकों ने बड़ा ही प्रामाणिक आलेख लिखा है। इतनी अच्छी पत्रिका के लिए बधाई स्वीकारें। **-- रामयतन यादव, मकसूदपुर पो. फतुहा, (पटना)।**

'चिन्तन-सृजन' (वर्ष 3, अंक-1) का संपादकीय जितनी बेबाकी और सत्य-निष्ठा के साथ लिखा गयाहै वह संपादक की लेखनी की प्रखरता को भली भाँति उजागर करता है और उद्घाटित करता है हमारे देश की मीडिया (कुछ अपवादों को छोड़कर) की उस विभत्स रस निमज्जित प्रवृत्ति को जो नित नूतन अश्लील प्रस्तुतियों के माध्यम से विचार-क्रान्ति नहीं अपितु विकार-क्रान्ति का आवाहन कर रही है। पत्र पत्रिकाओं और टी. वी. चैनलों द्वारा प्रकाशित तथा प्रदर्शित चित्रों, भाषा और दृश्यावलियों की सरणि तो मानों ऐसी दुर्गन्ध का संचरण करती है कि पाठक और दर्शक का मन जुगुप्सा से भर उठता है। प्राचीन भारत में गो-ब्राह्मण अवध्य माने जाते थे; आजकल प्रजातंत्रीय भारत में शायद मीडिया रूपी चतुर्थ स्तंभ ...। इस अंक के सभी नौ लेख 'चिन्तन-सृजन' के नव रत्न हैं। जो सम्बन्धित विषयों के सुन्दर निरूपण द्वारा पत्रिका को मानो नौलखा हार से सुसज्जित करते हैं। जहाँ तक एक पाठक के रूप में मुझे विशेष रोचकएवं महत्वपूर्ण लगा वह विषय क्रम सं. 3 का निबन्ध 'देशद्रोह की फेलोशिप' है। विचारवान एवं विद्वान लेखक ने पूर्ण साक्ष्य के साथ उन तथ्यों पर प्रकाश डाला है जो आज के छद्म सेक्युलरिज्म रूपी खाल ओढ़े बुद्धिजीवी नामधारी जीव-वर्ग द्वारा साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक सभी क्षेत्रों में हवाई यात्राओं, मानद उपाधियों, शांति-पुरस्कारों, चेयरपर्सन-कुर्सियों और विशिष्ट सम्मानों की खेतियाँ चरने कमाने फ्लैश बैक आंखों के सामने प्रस्तुत कर देता है। शंकर शरणजी के शब्द-शर शायद उनकी खाल खींच सकें। अज्ञेय के 'मम और ममेतर' की दार्शनिक भावभूमि और 'हिन्दी सर्जना एवं समालोचना' वाले उत्कृष्ट साहित्यिक आलेख साहित्य, दर्शन और समालोचना तीनों का सम्यक दर्शन कराते हैं। लेखक बधाई और धन्यवाद के पात्र हैं ।अंत में, अति विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहता हूँ कि पत्रिका के पृष्ठ कवर के बाहरी भाग की सबसे निचली पंक्ति में छपा जो नागरी में वेबसाईट है उसका इ ह्रस्व कर दें। साईट नहीं बल्कि 'साइट'। **च-- त्रिभुवन**

नारायण श्रीवास्तव, वाराणसी। पत्रिका का जुलाई-सितम्बर 2003 अंक पढ़ा। इसमें छपे विविध लेखों से परिचित हुआ। 'भारत की छवि' पर रोमिला थापर जैसी लेखिका (लेखक) छोटा-मोटा दाग भले लगा दें, किन्तु इस देश की महान संस्कृति में यह दम है कि यह शिव सम सब गरल को पीकर भी नीलकंठ बनी रहेगी।डॉ. लोकेशचन्द्र, व्ही. सूर्यनारायण, प्रकाश सिंह, राजीव वोरा एवं रामबहादुर राय जी के आलेख हमें चिंतित करते हैं। साथ ही ये हमें जागरूक भी करते हैं। इतनी श्रेष्ठ पत्रिका के प्रकाशन के लिए मेरी बधाई स्वीकारें। **-- विपिन कुमार, बाली नवादा, (बिहार)।**

भूल-सुधार

चिन्तन-सृजन के जुलाई-सितम्बर 2005 के अंक में श्री शंकर शरण के लेख के पृष्ठ सख्या 37 की पाँचवी पँक्ति का निम्नलिखित वाक्यांश नहीं छप पाया है, जिसका हमें खेद है। पाठक कृपया निम्नलिखित अंश जोड़कर पढ़ेंः

"ऐसे ही दुष्प्रचार को आधार बना कर अमेरिका ने गुजरात के मुख्य मंत्री नरेन्द्र मोदी को वीसा देने से इन्कार किया। अतः यह विलकुल स्वाभाविक था कि ..."

--- सम्पादक

We Strive
to Satisfy
Our Customers

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 ❖ Phone Off. 3277883, 3711848